१—आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया ।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः॥
-ऋक्सं० १ । ८३ । ४ । ।

२—यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥
-ऋक्सं० १ । ८३ । ५ ।

३—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
—मुण्डक० १।१।१

१—जिस समय पणि नाम से प्रसिद्ध असुरोंनें बृहस्पति की गाएँ चुरालीं, उस समय अङ्गिरा-महर्षियोंनें प्रथम इन्द्र के लिए वयोलक्षण अन्नरूप हवि का (यज्ञप्रक्रिया के द्वारा) सम्पादन किया । प्रज्वलित अग्नि से (यज्ञाग्नि से) युक्त होते हुए, अग्निमूर्त्ति इन अङ्गिराओंनें सर्वश्रेष्ठ शम्या नाम के यज्ञकर्म्म के द्वारा पणियों की गौ, अश्व, पशुरूपा सम्पूर्ण सम्पत्ति छीनली । यज्ञाविष्कारक अङ्गिराओं के यज्ञबल से ही इन्द्र असुरों को परास्त करने में समर्थ हुए, यही तात्पर्य्यार्थ है ।

२—अथर्वा (नाम के ब्रह्मा के ज्येष्ठपुत्र) ने यज्ञों से पहिला मार्ग वितित किया । अर्थात् अथर्वा ने हीं सर्वप्रथम यज्ञविद्या का आविष्कार किया । इसी यज्ञ के प्रभाव से (यज्ञजनित बल से) यज्ञव्रतों के रक्षक ज्योतिर्म्मय सूर्य्यसदृश प्रतापी इन्द्र पणिवध के लिए प्रकट हुए । अथर्वा उन गायों के सामने आए । कवि के पुत्र उशना असुरों के विनाश के लिए उस इन्द्र के सहायक हुए, जिस मरणरहित इन्द्र की हवि से हम तृप्ति किया करते हैं ।

३—सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था करने वाले, रक्षक ब्रह्मा ही सब भौमदेवताओं के पहिले प्रकट हुए। इन्होंनें सब विद्याओं की प्रतिष्ठारूप ब्रह्मविद्या (वेदविद्या) को अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा में प्रतिष्ठत किया ।

४—अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा-अथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भरद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भरद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥
—मुण्डक० उप० १।२।२

५—मन्त्रेषु कर्म्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके॥
—मुण्डक० १।२।

६—त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे।
द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा॥ १॥
त्रेतायां संहता वेदाः यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।
संरोधादायुषस्त्वेते भ्रंश्यते द्वापरे युगे॥ २॥
दृश्यंते न च दृश्यन्ते वेदाः कलियुगेऽखिलाः।
उत्सीदन्ते सयज्ञाश्च केवला धर्म्मपीडिताः॥ ३॥
—महाभा० शान्ति० मो० २३४ अ०।

७

—:०:—

४—ब्रह्माने अथर्वा के लिए जिस ब्रह्मविद्या का प्रदान किया, अथर्वाने पिता से प्राप्त उस ब्रह्मविद्या का सर्वप्रथम अङ्गिरा को उपदेश दिया। अङ्गिराने भरद्वाजवंश में उत्पन्न, अतएव भारद्वाज नाम से प्रसिद्ध सत्यवाह को ब्रह्मविद्या प्रदान की। भारद्वाज ने परावरलक्षणा इस विद्या का उपदेश अपने शिष्य अङ्गिरा को दिया। अथवा ऊपर से क्रमशः नीचे की ओर आने के कारण परावरा नाम से प्रसिद्धा ब्रह्मविद्या को अङ्गिरा में प्रतिष्ठित किया।

५—कविलोगोंनें वेदमन्त्रों में जिन कर्म्मों को देखा, वे यज्ञकर्म्म त्रेतायुग में अनेक प्रकार से व्याप्त हुए। अर्थात् मन्त्रों से आविष्कृत यज्ञविद्या का त्रेतायुग में बहुत प्रचार हुआ। तुम आज भी उन्हीं यज्ञकर्म्मों को व्यवहार में लाओ। यह तुम्हारे लिए सर्वश्रेष्ठ उन्नति का मार्ग है।

६—पूर्वप्रतिपादित यज्ञों की विधि त्रेतायुग के लिए है। कृतयुग [सत्ययुग] में इस का अभाव है। इसी प्रकार द्वापरयुग में ये यज्ञ सर्वथा विप्लवभाव को प्राप्त हो जाते हैं। [१] त्रेतायुग में धर्म में मनुष्यों की स्वतः अप्रवृत्ति रहती है। इसीलिए धर्म्मव्यवस्थापकोंनें इस युग में वेदपारायण, यज्ञ, तथा वर्णाश्रमों का

८—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद ईश्वर के वाक्य हैं, ईश्वर ही इनका सम्प्रदायप्रवर्त्तक है—

नित्यसिद्ध वेद ईश्वर के वाक्य हैं। स्वयं ईश्वर ही इसका सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक है। उसी ने अपने हीं द्वारा विश्व में वेदविभूति का प्रसार किया है। इसी वेदवाणी से ईश्वर ने सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण किया है। शिवादि ऋषिपर्य्यन्त सभी महापुरुष इसके ज्ञातामात्र थे। न उन्होंनें वेद बनाया, न सम्प्रदाय के वे आदिप्रवर्त्तक हुए। इस मत के समर्थक निम्नलिखित प्रमाण हमारे सामने आते हैं—

१–तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप–नित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्॥ (ऋक्सं० ८।७५।२५।)।
२–अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥
— मुण्डक० २।१।।
३—अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
४—स्वयम्भूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा।
शिवाद्या ऋषिपर्य्यन्ता स्मर्त्तारोऽस्य न कारकाः॥

विधान किया है। आगे जाकर आयु की कमी से द्वापर में ये भी उच्छिन्न हो जाते हैं। [२] कलियुग में नाममात्र को कहीं कहीं दिखलाई पड़ते हैं। यज्ञसहित वेद इस युग में उच्छिन्न होजाते हैं। नाममात्र के अवैध यज्ञादि, जिन से कि धर्म्म पीड़ित होता है, रहजाते हैं;

१ -हे विरूप! (नाम के महर्षि!) आप उस प्रसिद्ध वर्षक अग्नि की तृप्ति के लिए मन्त्ररूप नित्या वाक् से स्तुति करें।

२—उस ईश्वर का अग्नि मस्तक है, चन्द्र-सूर्य्य चक्षु हैं, वेद वाक् के विवर्त्तरूप हैं, अर्थात् वेद उसकी वागिन्द्रिय है, वायु प्राण है, विश्व उसका हृदय है। वह पैरों से पृथिवी पर प्रतिष्ठित है। ऐसा वह सर्वभूतान्तरात्मा सर्वत्र व्याप्त है।

३—अनादिनिधना (मरण-धर्म्मशून्या अतएव) सर्वथा नित्या (वेद) वाक् स्वयम्भू के (मुख से) उद्भूत हुई। आदि में विशुद्ध वेदमयी यह वाक् सर्वथा दिव्या है, जिस दिव्या वेदवाक् से कि सम्पूर्ण विश्व की प्रवृत्ति (रचना) हुई है।

४—स्वयम्भू भगवान् ने (ईश्वर ने) ही सर्वप्रथम (अपने मुख से) वेद का विस्तार किया है। शिव से आरम्भ कर सब वेदमहर्षि इस के स्मर्त्ता हुए हैं, न कि कर्त्ता।

५—"उत्सर्गोऽप्ययं वाचः सम्प्रदायप्रवर्त्तनात्मको द्रष्टव्यः ।
अनादिनिधनाया अन्यादृशस्यात्सर्गासम्भवात्" ॥
—शां० भा० १।३।२८। ।

८

९—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय यह वेद चतुर्मुख ब्रह्मा का वाक्य है, ब्रह्मा ही इन का सम्प्रदायप्रवर्त्तक है—

यह नित्यसिद्ध वेद चतुर्मुख ब्रह्मा के वाक्य हैं । सृष्टिनिर्म्माता स्वयम्भू ब्रह्मा के मुख से सर्वप्रथम इस वेदवाक् का ही विनिर्गम हुआ है । इसी नित्या वाक् के आधार पर ब्रह्मा सृष्टिनिर्म्माणकर्म्म में समर्थ हुए हैं । यह स्वयम्भू ब्रह्मा वेद के आदिसम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं, न कि वेदों के निर्म्माता । ईश्वर के अनुग्रह से इन्हीं के मुख से (प्राणमुख नाम के प्रथम मुख से) सर्वप्रथम नित्या वेदवाक् बाहिर निकली है । जिसप्रकार नित्यसिद्ध पुराणतत्त्व के ब्रह्मा स्मर्त्ता हैं, तथैव वेद के भी ये स्मर्त्ता ही हैं । अपिच जिसप्रकार नित्यसिद्धा पुराणविद्या को भगवान् वेदव्यास ने प्रकाशित किया है, उन्होंनें पुराण बनाया नहीं है । व्यास पुराणों के सम्प्रदायप्रवर्त्तकमात्र हैं, एवमेव ब्रह्मा भी वेद के सम्प्रदायप्रवर्त्तकमात्र हैं, कर्त्ता नहीं । फलतः वेद की कूटस्थनित्यता, एवं अपौरुषेयता सर्वथा अक्षुण्ण रह जाती है । इस मत के उपोद्बलक निम्नलिखित वचन हैं –

१—पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता ॥
२—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
३—अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वायम्भुवा ।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

९

५—उत्सर्गरूप उद्भव (उत्पत्तिभाव) भी वाक् (वेदवाक्) का सम्प्रदायप्रवर्त्तनात्मक ही समझना चाहिए । क्योंकि अनादिनिधना नित्या वाक् का कोई उत्पादक नहीं होसकता ।

१—ब्रह्मा ने सब शास्त्र के आदि में पुराण का स्मरण किया है, पुराण के अनन्तर इन के मुख से वेद निकले हैं । (२+३+पूर्व से गतार्थ) ।

१०—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद भिन्न भिन्न ऋषियों का वाक्य है, ऋषि इस के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं—

नित्यसिद्ध यह वेद (शास्त्र) भिन्न भिन्न ऋषियों का वाक्य है। ये आप्त-महर्षि इस वेद के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं। ऋषियोंनें तपोबल के प्रभाव से प्राप्त आर्षदृष्टि के द्वारा समय समय पर वेदतत्त्व को देखा, एवं उसे शब्द के द्वारा लोक में प्रवृत्त किया। यह वेदशास्त्र ऋषियों की कल्पना नहीं है, अपितु ईश्वरदत्ता विभूति है। जैसा इनके हृदय में (ईश्वर की प्रेरणा से) प्रकाश हुआ, इन्होंनें उस दिव्यज्ञानप्रकाशको उसी रूप से प्रकट किया। तात्पर्य्य यही हुआ कि, तपोयोग के प्रभाव से ऋषियों के अन्तःकरण में यह वेद अपने आप प्रकट हुआ। ऋषि ही इस के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हुए। दूसरे शब्दों में—यह भी कहा जासकता है कि, महर्षिगण सम्प्रदायपरम्परा से इसे सुनते, एवं समझते हुए इसका प्रचार करते आए हैं। कोई भी ऋषि मुख्यतया इसका निर्म्माता नहीं हुआ। इसी अभिप्राय से आप्त-पुरुष कहते हैं—

१—तद्वा ऋषयः प्रतिबुबुधिरे, य उ तर्हि ऋषय आसुः।
-शत० २।२।१।१४।

२—तद्वा ऋषीणामनुश्रुतमास।

३—यमाप्नवानो भृगवो विरुरुचुः।

४—ऋषयो मन्त्रदष्टारः, साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः।

५—तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत्।
दिव्या सरस्वती तत्र स्वं बभूव नभस्तलात्।

१०

—:*:—

१—उस वेदज्ञान को उन महर्षियोंनें प्राप्त किया किया, जोकि उस समय ऋषि होगए हैं।

२—यह वेदशास्त्र ऋषियों के द्वारा परम्परया श्रुत तत्त्व है।

३—जिस वेदतत्त्व को प्राप्त होते हुए (वेदज्ञान के प्रकाश से) भृगु-ऋषिगण प्रकाशित होगए।

४—ऋषि वेदमन्त्रों के द्रष्टा हैं। वेदतत्त्व का (आर्षदृष्टि से) साक्षात्कार करने वाले ही ऋषि हुए है।

५—उन ऋषियों की वेदमयी वाणी सब के कानों पर आई। वह दिव्या सरस्वती वहाँ आकाशमार्ग से अपने आप प्रगट हुई।

११— नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद के तात्पर्य्यानुसार ईश्वरने विश्व का निर्म्माण किया है—

नित्यसिद्ध वेदों के तात्पर्य्य के अनुसार ईश्वरप्रजापतिने विश्व का निर्म्माण किया है। प्रत्येक पदार्थ के उत्पत्तिक्रम, देश, काल, नाम, रूप, गुण, कर्म्म जो जो भाव पूर्वकल्प में थे, वे ही भाव उत्तरकल्प में हुए। इसी प्रकार ऋषियों के भी जो नाम पूर्वकल्प में थे, एवं जिस ऋषिने पूर्वकल्प में वेदतत्त्व का जिस रूप से साक्षात्कार किया था, इस कल्प में भी ऋषियों के वे ही नाम हुए, एवं उन ऋषियों के द्वारा उसी प्रकार वेदसृष्टि हुई। इसप्रकार ईश्वरप्रजापतिमें पूर्वकल्प में जो वेदमय ज्ञान अनुवर्त्तमान था, वही इस उत्तरकल्प में जाना गया। वही ईश्वरीय ज्ञान वेद कहलाया है। वेद ईश्वर का ही प्रत्यक्षज्ञान है, उसी के आधार पर नामरूपगुणकर्म्ममय विश्व का निर्म्माण किया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट होजाता है—

१—वेदेन नामरूपे व्याकरोत्, सदसती प्रजापतिः।
२—धाता यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।
३—तथाभिमानिनो नीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह।
देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥१॥
यस्मिन् योग्यः पुरा क्लृप्तो यस्मिन् देशे यथा स्थितिः।
तत्र तस्यानुरूपेण प्रजासर्गः प्रवर्त्तते ॥ २ ॥
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्व्वर्य्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥ ३ ॥

११

१—सदसन्मूर्त्ति (अमृत-मृत्युमूर्त्ति) प्रजापति (ईश्वर) ने वेद से ही नामरूप का विभाग किया।

२—सर्वजगत्-धाता (ईश्वर) ने पूर्वकल्प के अनुसार ही द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष, एवं स्व आदि लोकों को बनाया।

३—अभिमानी देवताओं से सम्बद्ध उत्तरकल्प के देवता उन पूर्वकल्प के देवताओं के समान हीं हैं। अतीत देवताओं के नाम-रूप-कर्म्मों के अनुसार ही इस युग में देवता प्रकट हुए हैं। जिस कर्म्म में पूर्वकल्प जो योग्य था, उसी कल्प में जो देश जहाँ था, जैसी स्थिति थी, वहाँ उसी स्थिति के अनुसार प्रजासर्ग होता है। पूर्वकल्प में ऋषियों के जो नाम थे, उन की वेदसम्बन्ध में जो दृष्टि (ज्ञान) थी, रात्रिकल्प के अन्त में उत्तरकल्प में प्रसूत उन्हीं नामों, एवं वेददृष्टियों को प्रजापति प्रदान करते हैं।

१२—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अपौरुषेय वेदशब्दों से ईश्वर ने विश्व का निर्म्माण किया है ।

ईश्वरप्रजापातिने वेदशब्दों से विश्व की रचना की है । प्रत्यक्षदृष्ट सम्पूर्ण भूतभौतिक-प्रपञ्च वेदशब्दों से (सांख्यमतानुसार शब्दतन्मात्रा से) ही उत्पन्न हुआ है । शब्दों के सन्निवेशतारतम्य से ही विश्व के पदार्थ भिन्न भिन्न नाम-रूपों में परिणत होरहे हैं । सम्पूर्ण विश्व वाङ्मय है, इसीलिए पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, विश्व के इन पाँचों प्रधान अवयवों में शब्द की उपलब्धि होरही है । संसार में कहीं भी, कोई भी वस्तु अशब्द नहीं है । इस मत के समर्थक निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त्त वचम हमारे सामने आते हैं ।

१—वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धम् ।
......................तयैवैकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ॥

२—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

३—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥

४—वाचा वै वेदाः सन्धीयन्ते, वाचा छन्दांसि, वाचा मित्राणि संदधति, वाचा सर्वाणि भूतानि । "अथो वागेवेदं सर्वम्" ॥

१-इन सम्पूर्ण (१४) भुवनों को वाक् ने ही उत्पन्न किया है । वाक् से ही अनेकरूप विश्व आक्रान्त है । उस वाक् से ही विभक्त करके (मनुष्य-वाङ्मय प्रपञ्च का) भोग करता है ।

२-सम्पूर्ण (३३) देवता वाक् को आधार बनाकर ही स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हैं । सम्पूर्ण गन्धर्व (२७), सम्पूर्ण पशु (५), मनुष्य, सब वाक के आधार पर ही जीवित हैं । यह वाक्तत्त्व इन सम्पूर्ण भुवनों में ओतप्रोत है । ऐसी यह वाग्देवी इन्द्रपत्नी हमारी प्रार्थना पर प्रसन्न हो ।

३-एकाक्षरमयी वाक् ऋतब्रह्म से सर्वप्रथम प्रकट हुई है । यह वाक् वेदों की (शब्दात्मक वेदों की) माता है, अमृत (ज्ञान) की नाभि है । ऐसी यह वाग्देवी प्रसन्न होती हुई, हमारी रक्षा करती हुई यज्ञ में पधारी है । यह मेरे लिए अच्छी बुलाई हुई बनें ।

४-वाक् से ही वेदों का संधान होता है, छन्द एवं मित्रों का सन्धान भी वाक् से ही करता है, सम्पूर्ण भूतों का सन्धान वाक् से ही होता है । वाक् ही सबकुछ है ।

५—"एते असृग्रमिन्दवस्तिरः* पवित्रमासवः+। विश्वान्यभिसौभग"- "एत" इति प्रजापतिर्देवानसृजत, "असृग्र"-मिति मनुष्यान्, "इन्दव"-इति पितॄन्, "तिरःपवित्र"-मिति ग्रहान्, "आसव"-इति स्तोत्रम्, "विश्वानी"- ति शस्त्रम्, "अभिसौभगे"-त्यन्याः प्रजाः"।

६—स 'भू' रिति व्याहरत, स भूमिमसृजत। स 'भुव' इति व्याहरत्, सोऽन्तरिक्षमसृजत। स 'स्व'रिति व्याहरत्, स दिवसृजत।

७—भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादीन् लोकान् प्रादुर्भूतान् सृष्टान् दर्शयति। (शां०भा० १।३।२१)।

८—वेदेन नामरूपे व्याकरोत् सदसती प्रजापतिः।

५-प्रजापति ने "एते" इस शब्द से देवताओं को उत्पन्न किया, "असृग्रम्" शब्द से मनुष्यों को, "इन्दवः" शब्द से पितरों को, "तिरः पवित्रं" शब्द से ४० ग्रहों को, "आसवः" शब्द से स्तोत्र को, "विश्वानि" शब्द से शस्त्र को, "अभिसौभग" शब्द से इतर (पशु-पक्षी आदि) प्रजा को उत्पन्न किया।

६-वह प्रजापति अपने मुख से "भूः" यह शब्द बोला, इसी शब्द से इसने भूपिण्ड उत्पन्न किया। भुवः से अन्तरिक्ष, एवं स्वः से द्युलोक उत्पन्न किया।

७-अन्तःकरण में प्रादुर्भूत भूः, भुवः आदि शब्दों से उत्पन्न भूमि-अन्तरिक्षादि लोकों की उत्पत्ति दिखलाते हैं।

८-सदसत् प्रजापति ने वेद (शब्द) से पदार्थों के नाम एवं रूपों का विभाग किया।

* "असृग्रम्" के स्थान में "असृजदग्रम्" यह पाठान्तर मिलता है।

+ "आसवः" के स्थान में "आत्रसवः" यह पाठान्तर मिलता है।

दोनों ही पाठान्तर लेखप्रमाद समझना चाहिए।

९—सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्म्ममे ॥
१०—नामरूपे च भूतानां कर्म्मणां च प्रवर्त्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्म्ममे स महेश्वरः ॥
११—नामरूपं च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रपञ्चनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः ॥

१२

१३— नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद के पूर्वकल्प का स्मरण करके सृष्टि के आदि में इस वेद को ईश्वर ने प्रकट किया है—

मनुष्य जब घोरनिद्रा में निमग्न होजाता है, तो पूर्वकल्पस्थानीय पूर्व दिन के उस के सभी कर्म्म अनुद्बुद्ध होजाते हैं। दूसरे दिन प्रातः निद्राभंग होने पर उन सब कार्यों का ज्यों का त्यों आविर्भाव होजाता है। सुषुप्तिकालोपलक्षिता रात्रि मनुष्य का पूर्वकल्प है, एवं जाग्रदवस्थोपलक्षित दिन इस का उत्तरकल्प है। ठीक यही परिस्थिति ईश्वरीय सृष्टि-प्रलय-धारा के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। प्रलयकालोपलक्षित **रात्र्यागम** में जब पदार्थमात्र का विराम होजाता है, तो उस समय वेद भी उसी ईश्वरप्रजापति में लीन होजाते हैं। सृष्टिकालोपक्षित **अहरागम** में पुनः उन सब पदार्थों का, एवं वेदों का उसी रूप से आविर्भाव होजाता है। इस से यह भी सिद्ध होजाता है कि, ईश्वर वेद का **कर्त्ता** नहीं है, अपितु स्मर्त्तामात्र है। इसी अन्तिम मत का निरूपण करता हुआ वेदान्त कहता है—

९–इस परमात्मा परमेश्वर ने गौजाति के गौ, अश्वजाति के अश्व, मनुष्यजाति के मनुष्य इत्यादि नामों को, एवं अध्ययनादि ब्राह्मणजाति के कर्म्मों का, प्रजापालनादि क्षत्रियजाति के कर्म्मों का, इसप्रकार सब के कर्म्मों का सृष्टि के आरम्भकाल में वेदशब्दों से ही पूर्वकल्पानुसार पृथक् पृथक् व्यवस्थितरूप से निर्म्माण किया।

१०—सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थों के नाम-रूपों का, कर्म्मों का जो विभाग देखा जाता है, उस सुव्यवस्थित विभाग का निर्म्माण सृष्टि के आदि में वेदशब्दों से महेश्वरने ही किया है।

११—भूतों के नाम रूपों का, कृत्या-अभिचार-वल्गादि भावों का, एवं देवादि का सृष्टि के आदि में वेदशब्दों से उसी ईश्वरने (सुव्यवस्थित विभाग) किया है।

१—"ननु क्षणिकत्वाभावेऽपि वियदादिवदादिमत्वेन परमेश्वरकर्तृकतया पौरुषेयत्वं वेदानामिति तव सिद्धान्तो भज्येतेति चेन्न। न तावत् पुरुषेणोच्चार्यमाणत्वं पौरुषेयत्वं, गुरुमतेऽपि पौरुषेयत्वापत्तेः। नापि पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्वं, नैय्यायिकाभिमतपौरुषेयत्वानुमानेऽस्मदादीनां सिद्धसाधनापत्तेः। किन्तु सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम्। तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसिद्धवेदसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान्। न तु तद्विजातीयं वेदमिति न सजातोयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषत्वं पौरुषेयत्वं वेदस्य। भारतादीनां तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम्" (वेदान्तपरिभाषा)।

१३

—— —*— —— ——

१—प्रश्न उपस्थित होता है कि-वेदों के क्षणिक न होने पर भी आकाशादिवत् सादिभाव के कारण परमेश्वर के द्वारा बनाए जाने के कारण भी यदि वेद का पौरुषेयत्त्व माना जायगा, तो तुम्हारे (वेदान्त के) सिद्धान्त का विरोध होगा। (कारण वेदान्त के मतानुसार वेद सर्वथा अपौरुषेय हैं)। आक्षेपात्मक इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि—"केवल पुरुष के मुख से उच्चारण का विषय बन जाना ही पौरुषेयत्व नहीं है। यदि पौरुपेयत्व का यही लक्षण माना जायगा, तो गुरुमत में भी पौरुषेयत्व की आपत्ति होगी। कारण भाट्टमत के मतानुसार वेद ईश्वरपुरुष के मुख से कहा हुआ है। इसीप्रकार पुरुष की अधीनता में (साक्षी में) वेद उत्पन्न हुआ है" पौरुषेय का यह भी लक्षण नहीं माना जासकता। कारण न्यायानुसार पौरुषेयत्व का यही लक्षण किया गया है। फलतः इस लक्षण के मानने से हमारे (वेदान्त) में सिद्धसाधन दोष होता है। ऐसी स्थिति में (स्वसिद्धान्त की रक्षा के लिए हमें) पौरुषेयत्व का-"सजातीयोच्चारण की अपेक्षा न रखने वाले उच्चारण का विषय ही पौरुषेयत्व है" यह लक्षण समझना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में (यह सिद्ध हो जाता है कि) सृष्टि के आदिकाल में ईश्वरने पूर्वकल्पसिद्ध, वेद की समान-आनुपूर्वी का स्मरण करके ही वेदनिर्म्माण किया। ऐसी दशा में उक्त पौरुषेयलक्षण वेद में घटित नहीं हुआ, फलतः वेद का अपौरुषेयत्व हमारे मत में सर्वथा अक्षुण्ण रह गया।

——*—— ——

उक्त तेरहों मत आंशिकरूप से परस्पर में विरोधात्मक होते हुए भी-'वेद नित्यसिद्ध हैं, कूटस्थ हैं, अपौरुषेय हैं' इस अंश में सर्वथा विरोधी हैं। यही पूर्वोत्तरमीमांसा का मत है। इसीलिए इन विभिन्न मार्गानुगामी १३ हों मतों को हम **मीमांसामत** मान सकते हैं। साथ ही में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि, जिन मतों का सप्रमाण अबतक दिग्दर्शन कराया गया है, उन में से कितने एक मत एक से मालुम होते हैं। यदि पाठक महाभाग सूक्ष्मदृष्टि से विचार करेंगे, तो उन्हें उन सब का सूक्ष्म-पार्थक्य विदित होजायगा।

१-पूर्वोत्तर-मीमांसामत,-वेद अकृत हैं, कूटस्थ-नित्य हैं, अपौरुषेय हैं।

१—वेद ईश्वर से अभिन्न हैं।

२—वेद ईश्वर के समकक्ष हैं।

३—वेद ईश्वर के निश्वास हैं।

४—वेद को ईश्वरानुग्रह से ब्रह्मा ने प्राप्त किया है।

५— " " महर्षियोंनें प्राप्त किया है।

६— " " अजपृश्नि ऋषियोंनें प्राप्त किया है।

७— " " अथर्वाङ्गिरा ने प्राप्त किया है।

८—वेद ईश्वर का वाक्य है, ईश्वर इस का सम्प्रदायप्रवर्त्तक है।

९—वेद चतुर्मुखब्रह्मा का वाक्य है, ब्रह्मा इसके सम्प्रदाय प्रवर्त्तक हैं।

१०—वेद भिन्न भिन्न ऋषियों के वाक्य हैं, ऋषि इस के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं।

११—वेद के तात्पर्य्यानुसार ईश्वर ने विश्व का निर्म्माण किया है।

१२—वेदशब्दों से ईश्वरने जगत् का निर्म्माण किया है।

१३—वेद के पूर्वकल्प का स्मरण करके सृष्टयादि में वेद को ईश्वर ने प्रकट किया है।

(१)-(२)-(३)-(४)

इन तेरह मतों के सम्बन्ध में ४—४—३—३-ये अवान्तर चार विमर्श समझने चाहिएँ। इन चारों के अनुसार उक्त तेरह मतों का निम्नलिखित स्वरूप पाठकों के सामने आता है—

१—१—आत्मारूप वेद ईश्वर से अभिन्न हैं।

२—२—आत्मारूप वेद ईश्वर से समतुल्य हैं।

३—३—आत्मारूप वेद ईश्वर के निःश्वास हैं।

* * *

४—१—ईश्वरानुग्रह से ब्रह्मा ने विज्ञानरूप वेदों को प्राप्त किया।

५—२—ईश्वरानुग्रह से महर्षियोंनें विज्ञानरूप वेदों को प्राप्त किया।

६—३—ईश्वरानुग्रह से अजपृश्नि ऋषियोंनें विज्ञानरूप वेदों को प्राप्त किया।

७—४—ईश्वरानुग्रह से अथर्वाङ्गिराने विज्ञानरूप वेदों को प्राप्त किया।

* * *

८—१—शब्दमय वेद ईश्वर के वाक्य हैं, ईश्वर इनके सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं।

९—२—शब्दमय वेद ब्रह्मा का वाक्य है, ब्रह्मा इस के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं।

१०—३—शब्दमय वेद ऋषियों के वाक्य हैं, ऋषि इसके सम्प्रदायप्रवर्त्तक हैं।

* * *

११—१—ईश्वर ने वेदशास्त्र से जगत् बनाया।

१२—२—ईश्वर ने वेदशब्द से जगत् बनाया।

१३—३—ईश्वर ने वेदशास्त्र से पूर्वकल्प का स्मरण किया, एवं तद्द्वारा जगत् का निर्म्माण किया।

* * *

इति--मीमांसामतप्रदर्शनम्

—*—

श्रीः

इति–त्रयोदश (१३)–अवान्तरमतयुक्तं–
पूर्वोत्तर-मीमांसाभिमत-प्रदर्शनम्

१

श्रीः

अथ–सप्त–(७)–अवान्तरमतयुक्तं–
नव्यन्यायाभिमत--प्रदर्शनम्

२

———*———

श्रीः

सप्त-(७)-अवान्तरमतयुक्तं
नव्यन्यायदर्शनाभिमत--मतप्रदर्शनम्

२

------ * ------

नव्यन्यायानुगत-दृष्टिकोण—

नव्यन्याय के मतानुसार वेद कूटस्थनित्यता, एवं प्रवाहनित्यता से रहित होता हुआ कथमपि नित्य-सिद्ध नहीं माना जासकता। मनुष्य ऋषि--यद्यपि इसके कर्त्ता नहीं हैं, अपितु द्रष्टा ही हैं, तथापि इसे अपौ-रुषेय नहीं माना जाकता। क्योंकि "यद्यत् कार्य्यं तत्तत् कर्तृजन्यम्" इस सर्वानुभूत सिद्धान्त के अनुसार कार्य्य बिना कारण के अनुपपन्न है। फलत: जिन कार्य्यों का कर्त्ता हम प्रत्यक्ष में नहीं देखते, अनुमान के द्वारा तत्र अवश्य ही किसी परोक्षकर्त्ता का अस्तित्त्व स्वीकार करना पड़ता है। वही आनुमानिक कर्त्ता 'ईश्वर' है। क्षित्य-ङ्कुरादि की भाँति वही वेदकार्य्य का भी प्रवर्त्तक है। इस ईश्वरपुरुष के सम्बन्ध से ही हम वेद को 'पौरुषेय' मान सकते हैं। हाँ शरीरधारी, अतएव सर्वथा परतन्त्र मनुष्य इसका कर्त्ता नहीं है, इस दृष्टि से इसे अपौरुषेय भी माना जासकता है। नव्यन्याय--ग्रन्थों में अतिसुप्रसिद्ध सर्वश्री **उदयनाचार्य्य**—विरचित "कुसुमाञ्जलि" नामक ग्रन्थ में इसी मत का समर्थन किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट होजाता है—

प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात्।
तदन्यस्मिन्ननाश्वासान्न विधान्तरसम्भवः॥

स्यादेतत्-परतः प्रामाण्येऽपि नित्यत्वाद् वेदानामनपेक्ष्यत्वं, महाजनपरिग्रहाच्च प्रामाण्यमिति विरोधः। न। उभयस्याप्यसिद्धेः। यदा च वर्णा एव न नित्यास्तदा कैव कथा पुरुषविवक्षाधीनानुपूर्व्यादिविशिष्टवर्णसमूहरूपाणां पदानां, कुतस्तरां च तत्समूह-रचनाविशेषस्य भावस्य वाक्यस्य, कुतस्तमां तत् समूहस्य वेदस्य। परतन्त्रपुरुषपराधीनतया प्रवाहाविच्छेदमेव नित्यतां ब्रूम इति चेत्, एतदपि नास्ति–सर्गप्रलयसम्भवात्"

—कुसुमाञ्जलि द्वि० स्तबक १ का०।

इसी मत को आधार मानने वाले सुविख्यातनामा म० म० श्रीगङ्गेशोपाध्याय भी चिन्तामणि-ग्रन्थ में अपने ये ही विचार प्रकट कर रहे हैं। देखिए!

"अत्र ब्रूमः–शब्दप्रमायां लोके वक्तुर्यथार्थज्ञानं न गुणः, किन्तु योग्यतादिकं यथार्थतज्ज्ञानं वा। लाघवादावश्यकत्वाच्च। + + + +। एवं वेदेऽपि यथार्थयोग्यता–ज्ञानमेव गुण इति न, वैदिकप्रमाया गुणजन्यत्वेनेश्वरसिद्धिः। स्यादेतत्। वेदवक्तुर्य–यार्थवाक्यार्थज्ञानमपि न गुणः। लोके प्रमाणशब्दं प्रति तादृशस्य ज्ञानस्य हेतुत्वात्। × × × ×। एवं च वेदो वाक्यार्थगोचरयथार्थज्ञानवत् स्वतन्त्रः प्रणीतः। प्रमाण–शब्दत्वात्। गामानयेति वाक्यवत्–इतीश्वरसिद्धिः। × × × ×। अथ तात्पर्यविशेषे वेदः प्रमाणम्। न चास्मदादेर्वेदं विनाऽतीन्द्रियवेदार्थगोचरज्ञानं, येन तत् प्रतीतीच्छयो–च्चारणं भवेत्। न च वेदादेव तत्, अन्योऽन्याश्रयात्। अतः सकलवेदार्थदर्शिना यस्य वेदस्य यथार्थप्रतीतीच्छयोच्चारणं कृतं, स तत्र प्रमाणमिति तादृशेच्छैव गुणः। तज्जन्या वेदार्थप्रमा-इति तदाश्रयस्वतन्त्रस्य पुरुषधौरेयसिद्धिः"।

—तत्वचिन्तामणि–प्रामाण्यवाद-प्रमोत्पत्तिरहस्य।

———— * ————

उक्त दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर ७ अवान्तर मतविभाग होजाते हैं। इनका भी संक्षेप से अत्र क्रमशः दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—प्रतिकल्प की सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर नवीन वेद बनाता है। (१४ मत)।

वेदतत्व को न तो ईश्वररूप माना जासकता, एवं न इसे ईश्वर के समकक्ष ही कहा जासकता। कारण स्पष्ट है। ईश्वर नित्य है, अनादि है, शरीरानाश्रित है। इधर शब्दराशिभूत वेद अनित्य है, सादि है, शरीर–व्यापाराश्रित है। ईश्वर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वेद ईश्वर से उत्पन्न होता है। प्रतिकल्प में होने वाले सृष्टि के आदिकाल में ईश्वर नया वेद उत्पन्न करता है। जैसे सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदि विश्व के अन्यान्य पदार्थ ईश्वर से सृष्टिकाल में उत्पन्न होते रहते हैं, तथा प्रलयकाल में नष्ट होते रहते हैं, ठीक इसी प्रकार प्रतिसृष्टि में नवीन वेद उत्पन्न होता रहता है, एवं प्रलयकाल में नष्ट होता रहता है। इस मत के समर्थक निम्न लिखित वचन हमारे सामने आते हैं।

१—प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते। (पुराण–न्यायचिन्तामणि)

२—ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः॥
जिह्वाग्रेषु प्रवर्त्तन्ते यत्नसाध्या विनाशिनः॥१॥

———

१—प्रत्येक मन्वन्तर के आरम्भ में दूसरे (नवीन) वेद का (ईश्वर से) विधान (उत्पत्ति) होता है।

२—ऋक्, यजुः, साम ये तीनों शरीरव्यापार के आश्रित हैं। जिह्वा के अग्रभाग में प्रतिष्ठित वागि–न्द्रिय से इनकी प्रवृत्ति [उच्चारण] होती है। प्रयास से प्राप्त होने योग्य यह (शब्दराशिरूप) वेद सर्वथा विनाशी है।१।

न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम् ।
न यत्नसाध्यं तद्ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवत् ।।२।।
ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते ।।
अनन्तश्चादिमतां नत्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ।।३।।
अनादित्वादनन्तत्वात् तदनन्तमथाव्ययम् ।।
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ।।४।।
(म० शान्तिप० मोक्ष०) ।

३—"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत--भूयान्त्स्यां, प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत् । स तपोऽतप्यत । स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम् । सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत् । तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति । ××+× । तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेव साऽसृज्यत । × × × × । सोऽकामयत-आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति । सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत । तदभ्यमृशत्- अस्त्विति । भूयोऽस्त्वित्येव तदब्रवीत् । ततो ब्रह्मैव प्रथममसृजत, त्रयीमेव विद्याम् । तस्मादाहुः–ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजमिति । अपि ह तस्मात् पुरुषात् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत । तदस्य तन्मुख–मेवासृज्यत" इति ।

—शत० ६।१।८–६-१० कं० उखासम्भरणश्रुतिः

१

ब्रह्मतत्त्व (ईश्वर) शरीरव्यापार के आश्रय से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । साथ ही में वह ब्रह्म न (शब्दवत्) यत्नसाध्य है, एवं न उसका कोई आदि है, न अन्त है ।२।

वह ब्रह्म [ईश्वर] ऋक्, यजुः, साम इन तीनों वेदों का आदि [उत्पादक] है । वह स्वयं सादिपदार्थों का (आश्रयभूत) अनन्त है । ब्रह्म का कोई आदि नहीं देखा गया ।।३।।

अनादिभाव, एवं अनन्तभाव के कारण ही वह 'अनन्त' एवं 'अव्यय' नाम से प्रसिद्ध है । इसी अव्ययभाव के कारण वह पर (परब्रह्म) तत्व दुःखविरहित, एवं द्वन्द्वातीत है ।।४।।

३—उस पुरुषप्रजापति (ईश्वर) ने इच्छा की कि, मैं बहुत बनूँ, उत्पन्न करूँ । इसी इच्छा से प्रेरित होकर उसने श्रम किया, उसने तप किया । श्राम एवं तपः कर्म्म से श्रान्त, तथा तप्त उसने सर्वप्रथम

२— नित्यसिद्ध वाक्तत्त्व से ईश्वर शब्दवेद, एवं विश्व को उत्पन्न करता है।

(१५ मत)।

नित्यसिद्ध वाक्तत्त्व से ईश्वरने वेद और विश्व का निर्म्माण किया है। कणाद-सिद्धान्त के अनुसार जिसप्रकार परमाणु नित्य हैं, किन्तु इन नित्य परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाले पाञ्चभौतिक पृथिव्यादि सभी पदार्थ अनित्य हैं, इसीप्रकार वाक्तत्त्व किंवा वाक्रूप शब्दतत्त्व यद्यपि सर्वथा नित्य है। तथापि वाक्तत्त्व से सम्पन्न होने वाला पद, वाक्य, सन्दर्भ आदि की समष्टिरूप शब्दमय वेद भी सर्वथा अनित्य ही है। जिसप्रकार नित्यवाङ्मय परमाणुओं से ईश्वर ने सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्रादि का निर्म्माण किया है, एवमेव इन्हीं वाङ्मय नित्य परमाणुओं से ईश्वरने अनित्य वेद का स्वरूप–निर्म्माण किया है। इस मत के समर्थक निम्नलिखित वचन हैं—

१—स तया वाचा तेनात्मना सर्वमसृजत–यदिदं किञ्च।
ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि यज्ञान्, प्रजाः पशून्॥

२— अथो वागेवेदं सर्वम्।

३—वाविगवृताश्च वेदाः।

४—वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता।

ब्रह्म नाम की त्रयीविद्या (ब्रह्मनिःश्वसितवेद नाम की स्वायम्भुवी विद्यात्रयी) ही उत्पन्न की। वही त्रयीविद्या इस प्रजापति के लिए प्रतिष्ठा बनी। इसी आधार पर–"ब्रह्म (वेद) ही सब की प्रतिष्ठा है" यह कहा जाता है। उस वेदप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर पुनः प्रजापति ने तप किया। इस तप से उसने वाक्लोक से (वाग्रूप उपादान द्रव्य से) पानी ही उत्पन्न किया। उसने इच्छा की कि, मैं इन पानियों के आधार पर (और कुछ) उत्पन्न करूँ। (इसी इच्छा से) वह इस त्रयीविद्या के साथ पानी में प्रविष्ट होगया। इस से अण्ड (ब्रह्माण्ड) का स्वरूप उत्पन्न होगया। प्रजापति ने उस अण्ड का स्पर्श करते हुए कहा कि तू होजा। जितना है, इस से बड़ा होजा, यह कहा। इस से "ब्रह्म" नाम की त्रयीविद्या (गायत्रीमात्रिक नाम की सौरी-विद्यात्रयी) ही सर्वप्रथम उत्पन्न की। इसी आधार पर ब्रह्म (वेद) ही इस सम्पूर्ण प्रपञ्च (विश्व) का प्रथमज (पहिले उत्पन्न होने वाला) है" यह कहते हैं। सममुच उस ईश्वरपुरुष से सर्वप्रथम ब्रह्म (वेद) ही उत्पन्न हुआ है। वह ब्रह्म इसके मुख से ही उत्पन्न हुआ है।

———*———

१—उस प्रजापतिने वाङ्मय अपने उस आत्मभाग से ही सबकुछ उत्पन्न किया है, जोकि यह सब कुछ (विश्वप्रपञ्च) है। ऋक्, यजुः, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा, पशु आदि सब को (प्रजापति ने) वाङ्मय आत्मा, किंवा आत्मा के वाग्भाग से ही उत्पन्न किया है।

२—वाक ही यह सबकुछ है।

३—चारों वेद वाक्तत्त्व के ही विवर्त्त (फैलाव) हैं।

४—यह वाक्तत्त्व सम्पूर्ण भुवनों में ओतप्रोत हैं।

५—अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी सत्या ततः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

२

—:*:—

३—वेद, एवं विश्व को ईश्वर ने अपनी इच्छानुसार बनाया है। (१६ मत)।

वेद, एवं विश्व दोनों का ईश्वर ने अपनी इच्छामात्र (संकल्पमात्र) से ही निर्म्माण किया है। तात्पर्य्य यही है कि, पूर्वोक्त द्वितीय (पञ्चदश) मतानुसार वेद एवं विश्वनिर्म्माण के लिए उसे न तो नित्यशब्द (वाक्तत्त्व) की अपेक्षा है, न नित्यपरमाणुओं की, एवं न किसी अन्य उपादान–सामग्री की। वह स्वयं सर्वशक्तिमान् है, सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र है। वह अपने कर्म्म में किसी इतर उपादान की कोई अपेक्षा नहीं रखता। वह जब भी जो भी चाहता है, बना डालता है। दूसरे सब्दों में यो कह लीजिए कि, उस के संकल्पमात्र से संकल्प के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं सबकुछ बन जाता है। जिसप्रकार पाषाणखण्डों के समूहरूप पर्वत, जलराशि-रूप समुद्र ईश्वर की इच्छा से उत्पन्न होने से अपौरुषेय (मनुष्यपुरुष की कृति से वहिर्भूत) हैं, एवं जिस-प्रकार इन अपौरुषेय ईश्वरकृतरूप पर्वतों के खण्डों से शिला–स्तूप–प्रतिमा–प्रासाद आदि पौरुषेयभावों का निर्म्माण कर लिया जाता है, जल से सरोवर, वापी, कूप, तड़ाग आदि पौरुषेयभाव सम्पन्न कर लिए जाते है, एवमेव अपौरुषेय वेद के शब्दों का संग्रह कर के अनेक पौरुषेयग्रन्थ बना डाले गए हैं। वेद सूर्य्य है, तो वेदग्रन्थ इस सूर्य्य के प्रतिबिम्ब हैं। सूर्य्य–समुद्रादिवत् वेदों का निर्म्माण भी सृष्टि के आरम्भकाल में ही हुआ है। इसी तृतीय मत का निरूपण करते हुए आप्तपुरुष कहते हैं—

१—यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥
२—दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः॥
३—तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः॥
(मुण्डक० २।१)।

———

५—अनादिनिधना नित्यावाक् स्वयम्भू ईश्वर के मुख से निकली है। इसी वेदमयी सत्यावाक् से सब कुछ प्रवृत्तियाँ (विश्वनिर्म्माण) हुई हैं।

———*———

१—जो ईश्वरतत्त्व सर्वज्ञ है, सर्ववित् (सर्वार्थमय) है, जिस का तप (कर्म्म) ज्ञानमय है, उसी ईश्वर से ब्रह्म नामक प्रतिष्ठालक्षण वेद, नामरूपात्मक ज्योति, तथा अन्नलक्षण यज्ञ उत्पन्न हुआ है।

२—वह ईश्वरपुरुष दिव्य (पाप्माविरहित सत्त्वमूर्त्ति) है, अमूर्त्त (भौतिकप्रपञ्च से असंस्पृष्ट) है। बाहिर-भीतर सब ओर असंगरूप से व्याप्त रहने वाला अज (नित्य-अजन्मा) है।

३—ऋक्, साम, यजुः, दीक्षा, सम्पूर्ण यज्ञ, सम्पूर्ण क्रतु (कर्म्म), सम्पूर्ण दक्षिणा, उसी से उत्पन्न हुई है। उसी से पर्वत समुद्र आदि उत्पन्न हुए हैं। विविधरूप सम्पूर्ण नद उसी से प्रस्रवित हुए हैं।

४—प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्रे-आसीत् । नाहरासीत्, न रात्रिरासीत् ।
स तपोऽतप्यत । तस्मात् तपस्तेपानाच्चत्वारो वेदा अजायन्त ॥

३

—:*:—

४—ईश्वरने वेद बनाकर ब्रह्मा, एवं महर्षियों के द्वारा उसे लोक में प्रवृत्त किया । (१७ मत)

सम्पूर्ण विश्व, एवं चारों वेदों का निर्म्माता ईश्वरपुरुष सर्वथा निराकार है । ऐसी स्थिति में हमें यह मान लेना पड़ता है कि, स्वयं निराकार ईश्वर साक्षाद्रूप से वेदों का उपदेश नहीं देता । होता क्या है ?, शरीरधारी किसी उत्कृष्ट सात्विक जीव के अन्तःकरण में ईश्वर वेद को प्रादुर्भूत करता है । एवं उसी के द्वारा वह लोक में वेद का प्रचार करवाता है । वे ही उत्कृष्ट जीव ब्रह्मा, व्यासादि मुनि, वसिष्ठादि महर्षि हैं । ये ही ईश्वर के द्वारा अन्तःकरण में उदित वेद के प्रचारक हुए हैं, जैसाकि निम्नलिखित पुराणवचन से स्पष्ट है—

१—तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये । (भागवत)

२—ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः ।
शर्व्वर्य्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥

४

—*—

५-ईश्वरने अपनी इच्छा से अग्नि-वायु सूर्य्य के द्वारा वेदों को उत्पन्न किया । (१८मत)

अग्नि पृथिवीलोक का रस है, वायु अन्तरिक्षलोक का रस है, एवं सूर्य्य द्यु लोक का रस है । तीनों भौतिक देवता उक्त तीनों लोकों के अतिष्ठाता (अधिष्ठाता) देवता हैं । इन भौतिकी अधिष्ठात्री देवताओं से ही ईश्वरेच्छा से तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं । अग्निरस से ऋग्वेद, वायुरस से यजुर्वेद, एवं सूर्य्यरस से सामवेद उत्पन्न हुआ है । उक्त तीनों देवता ईश्वर की ही विभूतियाँ हैं । फलतः वेदके ईश्वरकर्तृत्व में कोई बाधा नहीं आती है । इस मत के समर्थक आगे के श्रुतिवचन हैं—

४—सृष्टि के पहिले ईश्वरप्रजापति एकाकी था । उस समय न दिन था न उस समय रात्रि थी । उसने तप किया । उप तप करने वाले तपोमूर्त्ति ईश्वर से चारों वेद उत्पन्न हुए ।

—*—

१—उस ईश्वर ने आदिकवि के लिए (उस ज्ञान का-उसके हृदय में वितान (प्रसार) किया ।

२—वेदद्रष्टा महर्षियों के जो नाम सुने जाते हैं, वेदों के सम्बन्ध में जो महर्षियों की दृष्टि (साक्षात्कार-प्रत्यक्ष) है, रात्र्यागम के अन्त में (एवं अहरागम के आरम्भ में) उत्पन्न उन्हीं वेदों को वह आज इन ऋषियों को (प्रसार के लिए) प्रदान करता है ।

—*—

१-प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् । तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत् । अग्निं पृथिव्याः, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः । स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत् । तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत्-अग्नेर्ऋचः,वायोर्यजूंषि, सामान्यादित्यात् । स एतां त्रयीविद्यामभ्यतपत् । तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहत् । भूरिति ऋग्भ्यः, भुवरिति यजुर्भ्यः, स्वरिति सामभ्यः (छां. उ. ४।अ ।१७-खं०) । इति ।

२-'प्रजापतिरकामयत-प्रजायेय, भूयान्त्स्यामिति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इमांल्लोकानसृजत-पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम् । ताँल्लोकानभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त-अग्निरेव पृथिव्या अजायत, वायुरन्तरिक्षात् , आदित्यो दिवः । तानि ज्योतींष्यभ्यतपत् । तेऽभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त-ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात् । तान् वेदानभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त-भूरित्येव ऋग्वेदाजायत, भुव इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त-अकार, उकार, मकार इति । तानेकधा समभरत् । तदेतदोमिति" [ऐ०ब्रा० ५।५।३२] इति ।

१—प्रजापति [ईश्वर] ने तीनों लोकों को तपाया । तप्त उन तीनों लोकों से रसों को बहाया । पृथिवी से अग्निरस, अन्तरिक्ष से वायुरस, द्युलोक से आदित्यरस [उत्पन्न किया] । इन तीनों देवताओं को तपाया । इन तप्यमान देवरसों से क्रमशः अग्निरस से ऋग्वेद, वायुरस से यजुर्वेद, आदित्यरस से सामवेद को बहाया । इन तीनों विद्याओं को तपाया । इस तप्तत्रयीविद्या से क्रमशः ऋग्विद्या से भूः रस उत्पन्न किया, यजुर्वेद से भुवः रस उत्पन्न किया, एवं सामविद्या से स्वः रस उत्पन्न किया । इसप्रकार अपने ऐच्छिक तपोबल से ईश्वरने तीनों लोकों से क्रमशः तीनों देवरस, तीन वेदरस, एवं तीन व्याहृतिरस उत्पन्न किए ।

२—ईश्वर-प्रजापति ने कामना की कि, मैं प्रजा उत्पन्न करूँ [उत्पन्न प्रजापति के द्वारा] भूमभाव से युक्त बनूँ । [इस प्रजापतिकामना से प्रेरित होकर] प्रजापति ने तपोरूप कर्म्म किया । तप का अनुष्ठान कर प्रजापति ने क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु ये तीन लोक उत्पन्न किए । इन तीनों लोकों को प्रजापतिने तपाया । इन तप्त तीनों लोकों से क्रमशः पृथिवी से अग्निज्योति, अन्तरिक्ष से वायुज्योति [विद्युत्], एवं द्यौ से आदित्यज्योति उत्पन्न हुई । [आगे जाकर] इन तीनों ज्योतियों को तपाया । तप्त तीनों ज्योतियों से क्रमशः अग्निज्योति से ऋग् नाम का वेद, वायुज्योति से यजुः नाम का, वेद एवं आदित्यज्योति से साम नाम का वेद उत्पन्न हुआ । इन तीनों वेदों को तपाया । तप्त तीनों वेदों से क्रमशः ऋग्वेद से भूः नाम का शुक्र, यजुर्वेद से भुवः नाम का शुक्र, एवं सामवेद से स्वः नाम का शुक्र उत्पन्न हुआ । इन तप्त तीनों शुक्रों से क्रमशः भूः शुक्र से अकार, भुवः शुक्र से उकार, एवं स्वः शुक्र से मकार, इन तीनों वर्णों का विकास हुआ । इन तीनों को प्रजापति ने एक स्थान पर समवेत कर दिया । यही ओङ्कार कहलाया ।

३–अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ [मनुः] ।

५

---- * ----

६—ईश्वर ने अपनी इच्छा से सूर्य्य के द्वारा वेदों को उत्पन्न किया। (१९ मत)

ज्ञान-क्रिया-अर्थ तन्त्रों का सञ्चालक, "नैवोदेता नास्तमेता मध्य एकल एव स्थाता" (छा०-उपनिषत्) इस सामश्रुति के अनुसार विश्वकेन्द्र में बृहीतछन्द नामक विष्वद्वृत्त (इक्वेटर) के मध्य में प्रतिष्ठित, प्रत्यक्षदृष्ट सहस्रांशु सूर्य्य ही ईश्वर की इच्छा से, किंवा इच्छात्मिका प्रेरणा से तीनों वेद उत्पन्न करता है । दूसरे शब्दों में-ईश्वर अपनी वेदनिर्म्माणेच्छा को सूर्य्य के द्वारा पूर्ण करता है । इस मत का समर्थक निम्न लिखित वचन है—

१- तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
स तिस्रो वाचः प्रेरयति, ऋचो यजूंषि सामानि । [या.नि.परि. १४] ।

६

---- * ----

७—ईश्वरने अपनी इच्छा से यज्ञपुरुष के द्वारा वेदों को उत्पन्न किया। (२० मत)

वेद को ईश्वरने यज्ञ मे ही उत्पन्न किया है । यज्ञ के द्वारा ईश्वर से उत्पन्न होनेवाले इस वेद को अस्मदादि लौकिक पुरुषोंनें वेदसाक्षात्कर्त्ता ऋषियों से प्राप्त किया है । वही वेदराशि भिन्न भिन्न देशों में जाकर आम्नायभेद से अनेक शाखाओं में विभक्त होगई है । इस वेदाम्नाय के प्रवर्त्तक सात महर्षि ही मुख्य माने गए हैं । इस मत का समर्थक निम्नलिखित वचन है—

१–यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्–तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा सप्तरेभा अभिसंनवन्ते ॥ [ऋक्सं०] ।

७

---- * ----

३—प्रजापति मे यज्ञसिद्धि के लिए अग्नि–वायु–सूर्य्य से क्रमशः ऋग्–यजुः सामलक्षण तीनों नित्य ब्रह्मों [वेदों] का दोहन किया ।

---- * ----

१—यह वचन जैसे इस छठे मत की ओर लगाया जाता है, वैसे ही इसी वचन को प्राचीनन्यायाभिमत चतुर्थ मत का पोषक भी माना जा सकता है । इस का अर्थ उसी मत के निरूपण में किया जायगा ।

१—त्रयीवाक् के मार्ग को ऋषियों नें यज्ञ के द्वारा प्राप्त किया है । अतीन्द्रियार्थद्रष्टा महर्षियों में ही विद्वानोंनें वेदवाक् को प्राप्त किया है । उसी वाक् को लेकर अनेक शाखाओं से अनेक देशों में सम्प्रदाएँ प्रतिष्ठित कीं हैं । ऐसी इस त्रयीवाक् की ओर [विशेषरूप से] सप्तरेभा [सप्तर्षि] ही अनुगत हुए हैं ।

---- * ----

उक्त सातों ही मतों में–'**वेद का मुख्य कर्त्ता ईश्वर है, यह शब्दराशिरूप वेद ईश्वरकृत होने से पौरुषेय है, अनित्य है, शरीरधारीमनुष्य पुरुषकृत न होने से अपौरुषेय है**" इस **नव्यन्याय** मत का समावेश है। इसीलिए हमनें इन सातों मतों का नव्यन्यायमत में अन्तर्भाव माना है। इन सातों मतों के ४–३ भेद से दो कल्प हैं, जैसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

२–वेद ईश्वरकृत हैं, पौरुषेयापौरुषेय हैं, अनित्य हैं। (नव्यन्यायमत)

१–१–[१४]–प्रतिकल्प की सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर नवीन वेद बनाता है।

२–२–[१५]–नित्यसिद्धवाक्तत्त्व से ईश्वर शब्दवेद, एवं विश्व को उत्पन्न करता है।

४ ३–३–[१६]–वेद एवं विश्व को ईश्वर ने अपनी इच्छानुसार बनाया है।

४–४–[१७]–ईश्वर ने वेद बनाकर ब्रह्मा एवं महर्षियों के द्वारा उसे लोक में प्रवृत्त किया।

५–१–[१८]–ईश्वर ने अपनी इच्छा से अग्नि-वायु सूर्य्य के द्वारा वेदों को उत्पन्न किया।

३ ६–२–[१९]–ईश्वर ने अपनी इच्छा से सूर्य्य के द्वारा वेदों को उत्पन्न किया।

७–३–[२०]–ईश्वरने अपनी इच्छा से यज्ञ के द्वारा वेदों को उत्पन्न किया।

इति--नव्यन्यायमतप्रदर्शनम्

२

श्रीः

इति–सप्त-(७)–अवान्तरमतयुक्तं नव्यन्यायाभिमत–मतप्रदर्शनम्

२

श्रीः

अथ—पञ्च—(५)—अवान्तरमतयुक्तं
प्राचीनन्यायाभिमत–मतप्रदर्शनम्

३

श्रीः

अथ-पञ्च-(५)-अवान्तरमतयुक्तं
प्राचीनन्यायाभिमत-मतप्रदर्शनम्
३

---*---

प्राचीनन्यायानुगत-दृष्टिकोण—

प्राचीनन्याय के मतानुसार वेद ऋषिकृत हैं, साथ ही में पौरुषेय हैं। यद्यपि ये शब्द-राशिरूप वेद कूटस्थ नित्य नहीं हैं, तथापि इन की प्रवाहनित्यता में कोई सन्देह नहीं किया जासकता। लौकिक शब्द अनित्य होते हुए भी जैसे प्रवाहनित्य हैं, एवमेव वैदिकशब्द अनित्य होते हुए भी प्रवाहनित्य हैं। अपिच जिसप्रकार लौकिक शब्द आप्तपुरुषों के वचन होने से प्रमाणभूत माने जाते है, एवमेव वैदिकशब्द आप्तवचन होने से स्वत;प्रमाण हैं। भारद्वाजादि जिन आप्तपुरुषोंने आयुर्वेदादि की रचना की है, वे ही वेद के प्रवर्त्तक हुए हैं। जैसे आयुर्वेदादि को आप्तवचन होने से प्रामाण्य है, एवमेव इन वेदों को भी आप्तवचन होने से प्रामाण्य है। इस मत के समर्थक निम्नलिखित प्रमाण हमारे सामने आते हैं—

१—"आप्तोपदेशः शब्दः" (न्या० द० १।१।७)।

२—"स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्" (न्या० द० १।१।८)।

३—"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत् प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यवत्"

(न्या० द० २।१।६८)।

गौतमसूत्रों के भाष्यकार सर्वश्री 'वात्स्यायन' कहते हैं—

४—मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्। आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम्। लौकिकेषु चैतत् समानम्—इति। आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्म्माणः। × × × ×। दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनाऽऽयुर्वेदेनाऽऽदृष्टार्थो वेदभागोऽनुमन्तव्यः—प्रमाणमिति। आप्तप्रामाण्यस्य हेतोः समानत्वात्। + + × ×। द्रष्टुप्रवक्तृ सामान्याच्चानुमानम्। य एव वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति। नित्यत्वाद् वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे-'तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' इत्युक्तम्। शब्दश्च वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं, न नित्यत्वात्"

(वात्स्यायनभाष्य २।१।६८)।

५—'न भिद्यते लौकिकाद् वाक्याद् वैदिकं वाक्यम् । प्रेक्षापूर्वकारिपुरुषप्रणीतत्त्वेन । तत्र लौकिकस्तावत् परीक्षकोऽपि न जातमात्रं कुमारमेवं ब्रूयात्-अधीष्व, यजस्व, ब्रह्मचर्य्यं चर इति । कुत एष ऋषिरुपपन्नोऽनवद्यवादी-उपदेशार्थे प्रयुक्त उपदिशति" (४।४।६।२।)।

६—"य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, ते खल्वितिहास-पुराण-धर्म्मशास्त्रस्य चेति" । (४।१।६।२) । इति

— ——*— —

उक्त सूत्रों, तथा वात्स्यायनभाष्य का अभिप्राय यही है कि-'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द-भेद से प्रमासाधन (ज्ञानसाधन) प्रमाण चार भागों से विभक्त हैं । इन चारों में से आप्त (पहुँचवान) पुरुष का (शब्दात्मक-किंवा शब्दरूप) उपदेश ही शब्दप्रमाण है । साक्षात्कृतधर्म्मा पुरुष ही आप्त (विषयप्राप्त) कहलाते हैं । वे उस विषय के अन्तस्तल पर पहुँचे रहते हैं, उस विषय को यथार्थरूप से आप्त (प्राप्त) कर लेते हैं । ऐसे ही आप्तपुरुषों को 'तत्र भवान्' (उस विषय में आप्त-आप) कहा जाता है । ऐसे आप्तपुरुषों का शब्दात्मक उपदेश अस्मदादि अनाप्तपुरुषों के लिए अवश्य ही प्रमाण है" ॥१॥

शब्दप्रमाण दृष्ट-अर्थ, एवं अदृष्ट-अर्थ भेद से दो प्रकार का है । लौकिक घट-पट-अन्न-गृह-आदि पदार्थ दृष्टार्थ हैं । पारलौकिक अतीन्द्रियपदार्थ अदृष्टार्थ हैं । प्रत्यक्षदृष्ट लौकिक अर्थों को पहिचानने वालों का शब्दोपदेश लौकिक अर्थों के सम्बन्ध में प्रमाणभूत है । लौकिक विषयों के परीक्षक लौकिक पदार्थों के हानि-लाभ के सम्बन्ध में हमें जैसा आदेश करते हैं, वह हमारे लिए सर्वथा मान्य होता है । कारण, वे लौकिक विषयों में आप्त हैं । इसीप्रकार पारलौकिक आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य आदि अदृष्टपदार्थों को अपनी दिव्यदृष्टि (आर्षदृष्टि-योगजदृष्टि) से देखने वाले महर्षियों का शब्दोपदेश उक्त अदृष्टपदार्थों के सम्बन्ध में हम अनाप्तों के लिए प्रत्येक दशा में मान्य है । अपने अपने विषय में सभी आप्त हैं-जैसाकि भाष्यकार कहते हैं—

"आप्तः—ऋष्यार्य्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम् । तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तन्ते । एवमेभिः प्रमाणैर्देवमनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते । नातोऽन्यथा" (वा० भा० १।१।७।) ।

एक महर्षि पारलौकिक अर्थों में आप्त है, तो एक आर्य्य अपने सदाचार में आप्त है । एक म्लेच्छ अपने हिंसाकर्म्म में आप्त है । इन्हीं के बतलाए हुए मार्ग के अनुसरण से लौकिक-पारलौकिक व्यवहार चलते हैं । अपने अपने विषय में सब पण्डित हैं । एवं उन उन विषयों में उन उन आप्तपण्डितों का वचन ही हमारे लिए प्रमाण है । इन्हीं प्रमाणों के आधार पर देवता, मनुष्य, देवयोनियाँ सब की जीवनयात्रा का निर्वाह होरहा है । यदि ऐसा न किया जाय तो, लौकिक-पारलौकिक दोनों हीं मर्य्यादाएँ उच्छिन्न होजाँय । हमें ६६ प्रतिशत कार्य्य केवल शब्दादेश पर ही करने पड़ते हैं । यदि हम अपने बुद्धिवाद के गर्व में पड़कर परीक्षा की प्रतीक्षा करने लगें, तो जीवन ही कठिन होजाय-'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' ॥२॥

वेद शब्दराशिरूप है । मन्त्रशास्त्र एवं आयुर्वेदशास्त्र जैसे आप्तोपदेश होने से प्रमाण है, एवमेव वेद भी आप्तोपदेश होने से प्रमाण है । **'अमुक मन्त्र के जप से अमुक फल मिलता है'** इस उपदेश से हम उस कथन को प्रमाणभूत मानते हुए मन्त्रजप में प्रवृत्त होजाते हैं । एवमेव--**'अमुक रोग में अमुक औषधि हितकर'** हैं, आयुर्वेद के इस आदेश को शिरोधार्य्य कर उस औषधिपान में प्रवृत्त होजाते है। इस प्रवृत्ति का एकमात्र कारण आप्तबुद्धि ही है । हम समझते हैं कि, उक्त आदेश परीक्षक विद्वानों का है । इस में कभी भ्रान्ति नहीं होसकती । वेद भी आप्तमहर्षियों का वाक्य है । अतः **'अमुक कर्म्म से अमुक फल मिलता है'** इत्यादि वेदोपदेशों पर हमारी स्वतः एवनिष्ठा होजाती हैं । यदि निष्ठा नहीं होती है, तो होनी चाहिए । जिस मनुष्यने अपने जीवन में एकबार भी ब्राह्मी नही देखी हो, जिसे स्वप्न में भी यह विदित नहीं हो कि, ब्राह्मी ज्ञानवर्द्धिका है, तो भी केवल आप्तोपदेश के आधार पर इसे उसको अपनाना पडेगा । **'हम तो जभी मानेंगे, जबकी पूरी जाँचकर लेंगे'** ऐसा दुराग्रह रखने वाले अश्रद्धालुओं को भीआयुर्वेदोपदेश में आप्तभाव के कारण बिना परीक्षा के ही प्रवृत्त होजाना पड़ता है । महर्षि **गोतम** कहते हैं कि, जिस हेतु (आप्तप्रामाण्य-बुद्धि) से तुम आयुर्वेद को प्रमाण मान लेते हो, उसी आप्तभाव के कारण **वेद** को भी प्रमाण मनो ॥३॥

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्णमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥

उक्त आप्तवचन के अनुसार युगान्त में अन्तर्हित वेदों का युग के आदि में महर्षियों के द्वारा आविर्भाव हुआ करता है । दूसरे शब्दों में मन्वन्तर के आदि में वेदसम्प्रदायप्रवर्त्तक-ऋषियों के द्वारा युगान्त में अन्तर्हित वेद प्रादुर्भूत होता रहता है । इसप्रकार वेद का यह उद्धारक्रम निरन्तर (अनादिकाल से) चला आरहा है । ऐसी स्थिति में वेद के नित्यसिद्ध, किंवा कूटस्थ नित्य न होने पर भी हम इसे **'प्रवाहनित्य'** अवश्य ही मान सकते हैं । आप्तप्रामाण्य के कारण वेद में प्रामाण्य मानना पड़ता है । लौकिक दृष्टार्थों के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था है । अर्थात् उन के शब्दोपदेश को भी आप्तबुद्ध्या ही प्रमाण माना जाता है । साक्षात्–कृतधर्म्मा पुरुष ही आप्त कहलाता है । आप्तोपदेशभूत दृष्टार्थस्वरूप आयुर्वेद के द्वारा अदृष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वेदों की प्रामाणिकता में भी वही हेतु है । क्योंकि आप्तभाव दोनों के लिए समान है । अपिच दोनों के (आयुर्वेद और वेद के) प्रवक्ता द्रष्टा हैं । साक्षात्कार करने वाले ही द्रष्टा कहलाते है । आयुर्वेदादि के प्रवक्ता–द्रष्टा पुरुष हैं, इसलिए वह प्रामाणिक है, इसी आधार पर द्रष्टा के प्रवचनरूप वेद की प्रामाणिकता में भी सन्देह नहीं किया जासकता । निष्कर्ष यही हुआ कि, **ब्रह्मा अश्विनीकुमार भारद्वाजादि** जो महर्षि आयुर्वेदादि के प्रवक्ता हैं, वे ही वेद के प्रवक्ता हैं । ऐसी स्थिति में ब्रह्मादि के उपदेशभूत आयुर्वेदादि यदि प्रमाण हैं, तो उन्हीं ब्रह्मादि महर्षियों से कहे गए वेद की प्रामाणिकता में भी कोई सन्देह नहीं रह जाता । हाँ इस सम्बन्ध में यह नहीं भूल जाना चाहिए कि, शब्दराशि को प्रमाण माना जाता है । **'शब्द नित्य है, इसलिए वह प्रमाण है'** इस भ्रम में कदापि नहीं पड़ना चाहिए । क्योंकि शब्द (न्यायमतानुसार) सर्वथा अनित्य है ॥४॥ ५–६–स्पष्ट हैं ।

तथाकथित प्राचीनन्यायमत के अवान्तर पाँच विभाग होजाते हैं । इनका भी अत्र संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है ।

१—ईश्वरावतार ब्रह्माने वेद का निर्म्माण किया है । (२१ मत)

ब्रह्मा ईश्वर के अवतार थे। इन्होंनें हीं सर्वप्रथम वेदों को उत्पन्न किया है। **निर्गुण सगुण** भेद से ब्रह्म के दो विवर्त्त हैं । इनमें दूसरा सगुणब्रह्म **निराकार-साकार** भेद से दो भावों में परिणत होरहा है। इनमें से दूसरा साकार ब्रह्म **परमात्मा, अन्तरात्मा, शरीरात्मा,** भेद से तीन भागों में विभक्त है। ये तीनों हीं आत्मा पुनः तीन तीन भागों में विभक्त होरहे हैं। परमात्मा के **सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्**, ये तीन विवर्त्त हैं। अन्तरात्मा के **जीवात्मा, क्षेत्रज्ञात्मा भूतात्मा,** ये तीन विवर्त्त हैं। एवमेव शरीरात्मा के **वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ,** भेद से तीन विवर्त्त हैं।

अथवा प्रकारान्तर से देखिए। ईश्वरतत्त्व **निर्गुण-सगुण** भेद से दो भागों में विभक्त है। इनमें दूसरा सगुणेश्वर धर्म्मोपहित, **धर्म्मविशिष्ट** भेद से दो भागों में विभक्त है। इनमें दूसरा धर्म्मविशिष्ट **ईश्वरात्मा, जीवात्मा,** शिपिविष्टात्मा, भेद से तीन भागों में विभक्त है। ये तीनों हीं आत्मविवर्त्त पुनः तीन तीन भागों में विभक्त हैं। ईश्वरात्मा के **सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्** ये तीन विवर्त्त हैं। जीवात्मा के **क्षेत्रज्ञात्मा, महानात्मा, भूतात्मा** ये तीन विवर्त्त हैं। एवं शिपिविष्टात्मा के **असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ,** भ्रमर-भृणादिरूप **ससंज्ञ** भेद से तीन विवर्त्त हैं। इन सब आत्मविवर्त्तों की समष्टि ही ईश्वरप्रपञ्च है।

उक्त ब्रह्म-विवर्त्तों में से धर्म्मविशिष्ट ब्रह्म के अवयवभूत ईश्वरात्मा के तीन अवयवों में से जो मध्य का **'हिरण्यगर्भ'** नामक विवर्त्त है, उसे ही हम **ईश्वरावतार** ब्रह्मा, किंवा प्रजापति कहेंगे। इसी ईश्वरावतार, प्रजासृष्टिविधाता धाता ने वेदों का निर्म्माण किया है। इस मत के समर्थक निम्न लिखित श्रुति-स्मृति वचन हैं—

१-हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(यजुः सं०) ।

२-अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत् स्वयम् ।
वेदविद्याविधातारं ब्रह्माणममितं द्युतिम् (महाभारत-शान्तिप० २०७ अ०)
१

———*———

२—ईश्वरावतार मत्स्यभगवान्ने वेद बनाया है। (२२ मत) ।

कितनें हीं विद्वानों के मतानुसार यह वेद ईश्वरावतार **'मत्स्य'** भगवान् की वाणी है। **मत्स्यावतार** ही वेद के आदि प्रवर्त्तक हैं, जैसा कि आगे की पङ्क्तियों से स्पष्ट होजाता है—

१—सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए। ये ही सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च के अधिपति थे। इन्होंने हीं पृथिवी और इस द्युलोक को धारण किया। हम इनसे अतिरिक्त और किस देवता के लिए हवि का विधान कर सकते हैं।

२—ईश्वर ने (अपने अवतारभूत हिरण्यगर्भ नामक) धाता [ब्रह्मा] को ही सम्पूर्ण भूतों का अध्यक्ष बनाया। वे ब्रह्मा वेदविद्या के प्रवर्त्तक थे, एवं महातेजस्वी थे।

———*———

*"ननु अशरीरात् कथं वेद-घटादि-शब्दव्यवहारसम्प्रदायः। उच्यते-सर्गादावदृष्टोपगृहीतभूतभेदात् -मीनशरीरोत्पत्तावदृष्टवदात्मसंयोगाददृष्टसहकृतप्रयत्नवदीश्वरसंयोगाद्वा सकलवेदार्थगोचरज्ञानात्-विवक्षासहितान्मीनकलेवरकण्ठताल्वादिक्रियाजन्यसंयोगाद् वेदोत्पत्तिः। एवं कुलालादिशरीरावच्छेदेनादृष्टसहकृतप्रयत्नवदीश्वरसंयोगात् तद् बुद्धीच्छा--सहितचेष्टोत्पत्तौ सकलघटानुकूलव्यापारो घटोत्पत्तिः। एवं प्रयोज्यप्रयोजकज्ञानाय व्यापाराभिमतशरीरावच्छेदनापि अदृष्टसहकृतेश्वरज्ञानेच्छाप्रयत्नादेव व्यवहारः। ततस्तत् सुशीलो बालो व्युत्पद्यते। सोऽयं भूतावेशन्यायः।

यत्तु यथा लिप्यादिना मौनिश्लोकोऽनुमानाय पठ्यते, तथा सर्गान्तरोत्पन्नतत्वज्ञानवता भोगार्थं सर्गादावुत्पन्नेन मन्वादिना सर्वज्ञेन ईश्वराभिप्रायस्थवेदः साक्षात्कृत्यानूद्यते। ततोऽग्रिमसम्प्रदायः। स एव कायव्यूहं कृत्वा वाग्व्यवहारं करोतीति मतम्। तन्न। प्रतिसर्गाद्यनन्तकल्पनायां गौरवात्। तेषामेव क्षित्यादकर्तृत्वसंभवे न-ईश्वरानुगमाच्च' (तत्त्वचिन्तामणि)

२

---

* "अयं घट',-"अयं वेदः" इत्यादि शब्दव्यवहारसम्प्रदाय कण्ठताल्वादि-जन्य अभिघातरूप शरीरव्यापार की अपेक्षा रखते हैं। ईश्वर शरीरव्यापाररहित है। फिर यह शब्दव्यवहारसम्प्रदाय किससे, कब चला ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए 'चिन्तामणि' कार कहते हैं-'सृष्टि, के आरम्भ में अदृष्ट के बल से उपगृहीत भूतभेद से मीनशरीर की उत्पत्ति हुई है एवं अदृष्टवत् आत्मसंयोग से, किंवा अदृष्ट से युक्त प्रयत्न के समान ईश्वरेच्छा के संयोग से (मीनशरीर में) सम्पूर्ण वेदार्थों के देखने का ज्ञान प्राप्त होजाने से तत्तद्विवक्षाओं से युक्त मीनशरीर के कण्ठताल्वादि के अभिघात से उत्पन्न तत्तद्संयोगविशेषों से ही वेदशब्द, किंवा शब्दात्मक वेद उत्पन्न हुआ है, यह मान लेने पर शरीरव्यापारसापेक्ष शब्दसम्प्रदाय की सिद्धि होजाती है। इसीप्रकार कुलालादि शरीर से युक्त, उसी अदृष्ट से युक्त प्रयत्न से ईश्वरसंयोग के द्वारा ईश्वरसंयोगयुक्ता बुद्धि एवं इच्छायुक्त चेष्टा के प्रादुर्भूत होने से सम्पूर्ण घटों के व्यापार के उदय से घटोत्पत्ति, एवं घटशब्दोत्पत्ति हुई है। इसप्रकार प्रयोज्य प्रयोजक के परिज्ञान के लिए व्यापाराभिमत शरीरसत्ता स्वीकार कर लेने पर भी, दूसरे शब्दों में शरीर का सहयोग मान लेने पर भी अदृष्टसहकृत ईश्वरज्ञान से उद्भूत इच्छा के प्रयास का सहयोग अवश्य ही मानना पड़ता है। अर्थात् ईश्वरेच्छा से ही मीनने स्वशरीरव्यापार से वेदसम्प्रदाय प्रवृत्त किया है, एवं ईश्वरेच्छा से ही कुलालादि घटसम्प्रदायप्रवृत्ति के हेतु बनते हैं। उसी ईश्वरेच्छा से एक कम ऊमर वाला बालक "काका-मामा-बावा" इसप्रकार बोलने लगता है। यही "भूतावेशन्याय" है। अर्थात् जिसप्रकार एक भूत (प्रेतात्मा) जैसे परकाय में प्रवेशकर बोलने लगता है, एवमेव ईश्वरेच्छा ही तत्तत्-शरीरों में प्रविष्ट होकर तत्तत् कार्यकलापप्रवृत्ति का कारण बनती है। इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी कहता है—

३—ईश्वरावतार अग्नि–वायु–सूर्य्य-नामक देवताओंनें वेद बनाया है। (२३ मत)

ऋक्–यजुः–साम नाम से प्रसिद्ध तीनों वेद क्रमशः **अग्नि**, वायु,–सूर्य्य नामक तीन अभिमानी-देवताओं से उत्पन्न हुए हैं। "अभिमानीव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" (शा० सूत्र०) के अनुसार संसार में सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी–अग्नि–वायु–वरुण आदि जितनें भी जड़ पदार्थ हैं, उन सब का (प्रत्येक का) एक एक **अभिमानि देवता** * होता है। ये देवता पुरुष के समान ही शरीरधारी **चेतन**जीव हैं। पुरुष में जहाँ ११ इन्द्रियाँ है, वहाँ इन देवताओं में **अष्टसिद्धि, नवतुष्टि** इन १७ सिद्धितुष्टियों के समावेश से २८ इन्द्रियाँ हैं। ये देवता अपने ऐश्वर्य के प्रभाव से तीनों लोकों में यथेच्छ यातायात करने में समर्थ हैं।

ऊर्ध्वं सत्वविशालस्तमोविशालस्तु मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तः ॥ (सां०कारिका)

उक्त सांख्यसिद्धान्त के अनुसार भूतसर्ग **सत्वविशाल, रजोविशाल, तमोविशाल** भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन में तमोविशालसर्ग **आप्यजीव हैं, रजोविशालसर्ग** वायव्यजीव हैं, एवं सत्वविशालसर्ग सौम्यजीव हैं। ये तीनों क्रमशः १–५–८ इस क्रम से विभक्त हैं। **यही सांख्योक्त १४ प्रकार का भूतसर्ग** है। इन में सत्वविशाल सौम्यजीव **यक्ष–राक्षस पिशाच–गन्धर्व–ऐन्द्र–पैत्र्य–प्राजापत्य–ब्राह्म** भेद से आठभागों में विभक्त है। ये आठों ही अपात् (चरणरहित) जीव हैं। ये चान्द्रमण्डल (चन्द्रिका) में हीं

जिसप्रकार लिपि के आधार पर एक व्यक्ति लिपिमय श्लोकों का अनुमान करता हुआ (अन्दाजा लगाता हुआ) चुपचाप पढ़ लेता है, इसी प्रकार दूसरे सर्ग में (पूर्वसर्ग में) उत्पन्न तत्त्वज्ञान से युक्त भोग के लिए सर्गादि में उत्पन्न मनु आदि सर्वज्ञ महानुभाव ईश्वराभिप्रायस्थ वेद का साक्षात्कार करके उसका अनुवाद किया करते हैं। तात्पर्य्य यह हुआ कि, ईश्वर एकप्रकार का पत्र है। उसका वेदतत्त्वात्मक अभिप्राय ही वेदलिपि है। इस वेदलिपि को मौनवृत्ति से ईश्वरप्रेरणा से मन्वादि ने देखा। देखकर शब्द के द्वारा प्रकट किया। इस क्रम से वेदसम्प्रदाय आगे आगे चल पड़ा। मन्वादि राजर्षि, एवं वसिष्ठादि महर्षि उसी के तो शरीर हैं। जिसप्रकार एक योगी कायव्यूहप्रक्रिया से अनेक शरीर धारण कर कर्म्मभोग में समर्थ होजाता है, एवमेव वह ईश्वर कायव्यूहरूप मन्वादि अनेक शरीर धारण कर वेदवाक् का व्यवहार करता हुआ वेदसम्प्रदाय चलाता है"। इस पूर्वपक्षी मत का खण्डन करते हुए मणिकार कहते हैं—ऐसी परिस्थिति में प्रतिसर्ग के आदि में अनेक सर्वज्ञों की कल्पना करने से गौरव होगा। साथ ही में वेदवत् उन्हीं का क्षित्यङ्कुरादि का कर्तृत्त्व सम्भव होने से उन्हें ही ईश्वर मानना पड़ेगा। फलतः अनेक ईश्वर हो जायँगे। यह महा अनर्थ होगा। अतः वेद–घटादि–सम्प्रदायव्यवहार के सम्बन्ध में पूर्वोक्त सिद्धान्त ही स्वसिद्धान्त (एकेश्वरवादसिद्धान्त) के अनुसार समीचीन है।

* पुरुषविध, अपुरुषविध, मन्त्र, कर्म्म, अभिमानी, आत्म आदि भेद से देवता आठ प्रकार के होते हैं। इन सब का विशद वैज्ञानिक निरूपण **"शतपथविज्ञानभाष्य"** के प्रथमकाण्डानुगत प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

निवास करते हैं। इन आठों में से ५ वाँ ऐन्द्रसर्ग ही "इन्द्रः सर्वा देवताः" (शत० ब्रा०) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार देवसर्ग है। देवता ३३ हैं। इन में अग्नि, वायु, सूर्य्य ये तीन देवता ही मुख्य, एवं श्रेष्ठ हैं। ये इन के वर्णनाम (जातिनाम) हैं। व्यक्तिविशेष से इन नामों का कोई सम्बन्ध नहीं है। अग्निजातीय, वायव्यजातीय, सूर्य्यजातीय, अनन्त अग्नि-वायु-सूर्य्य देवता हैं। मनुष्यादि तिर्य्यक्सर्गवत् इन का भी समय समय पर जन्म-मृत्यु हुआ करता है। जिसप्रकार अस्मदादि वायव्यजीव वायु के आधार पर, मत्स्य-मकरादि आप्यजीव पानी के आधार पर अपने **चिदाभास** को प्रतिष्ठित रखते हुए क्रमशः वायु-एवं पानी के आधार पर श्वास प्रश्वास व्यापार में समर्थ होते हैं, एवमेव अष्टविध ये सौम्यदेवता सोम के आधार पर ही अपने चिदाभास एवं श्वास निःश्वास व्यापार को प्रतिष्ठित रखने में समर्थ होते हैं। यही (सोम ही) इन के जीवन का मूलाधार है। इन में जहाँ जन्मसे ही अणिमादि आठ सिद्धिएं नौ तुष्टिएं, रहती हैं, मनुष्य योगप्रक्रियाओं के द्वारा इन सिद्धि तुष्टियों को प्राप्त कर सकता है। जन्मसिद्ध इन सिद्धियों, एवं तुष्टियों के प्रभाव से ये देवता विशेषज्ञान, एवं विशेषशक्ति से युक्त हैं। इस ज्ञानोत्कर्ष एवं शक्त्युत्कर्ष से ही ये अस्मदादि की अपेक्षा विशेष 'भग' सम्पत्ति से युक्त होते हुए 'ईश्वर के अवतार' कहलाते हैं।

हम जिन देवताओं की उपासना करते हैं, वे ये ही अभिमानी देवता हैं। जिसे सर्वसाधारण अग्नि कहते हैं, जिस में कि अन्नादि का परिपाक होता है, वह **'भूताग्नि'** है। स्पर्शानुभूत वायु **भौतिकवायु है।** प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यपिण्ड **'भौतिकसूर्य्य'** है। प्रत्यक्षदृष्ट गंगातोय **'भौतिकजल'** है। हम इन भौतिक अग्नि-वायु-सूर्य्य-जलादि की उपासना नहीं करते। अपितु इन में रहने वाले प्राणात्मक अग्नि-वायु सूर्य्य-गंगा-आदि अभिमानी-देवताओं की उपासना करते हैं। अस्तु यह सब विषय प्रकृत से असंबद्ध है। यहाँ हमें केवल **अग्नि-वायु सूर्य्य** इन तीन अभिमानी-देवताओं की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है।

पूर्व के १८ वें मत में भौतिक अग्नि-वायु-सूर्य्य को वेदत्रयी का कर्त्ता बतलाया था, परन्तु प्रकृत मतानुसार इन तीनों के-अभिमानी-देवता ही त्रयीवेद के उत्पादक हैं। जड़पदार्थ से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होसकती। भौतिक देवता जड़ हैं, फलतः उन से वेदोत्पत्ति मानना असंगत है। चेतन, शरीरधारी अभिमानी इन तीनों प्राणात्मक देवताओं से ही वेद उत्पन्न हुए हैं। ईश्वर की विभूतिरूप, अतएव ईश्वरावतार अग्निनाम के जीवविशेष से ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद, एवं सूर्य्य से सामवेद उत्पन्न हुआ है। इस मत के आधारभूत निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त्त-वचन हैं—

१—त्रयो वेदा असृज्यन्त-अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात् सामवेदः।

(ऐ० ब्र०)।

२—अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥ (मनु०)

१—अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, एवं आदित्य से सामवेद-इस क्रम से ईश्वरने तीनों देवताओं से तीन वेद उत्पन्न किए।

२—यज्ञसिद्धि के लिए ईश्वरने अग्नि-वायु-रवि से ऋग्-यजुः-सामलक्षण सनातन त्रयीब्रह्म का दोहन किया।

३—प्रत्यक्षानुमानोपमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु अन्तिमो वेद इति चेन्न । मन्वादिस्मृतिष्वतिव्याप्तेः । समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनमित्येतस्यागमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात् । अपौरुषेयत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेन्न । वेदस्यापि परमेश्वरनिर्म्मितत्वेन पौरुषेयत्वात् । शरीरधारिजीवपुरुषनिर्म्मितत्वाभावादपौरुषेयत्वमिति चेन्न ।

"सहस्रशीर्षा पुरुषः" इत्यादि श्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरीरत्वात् । कर्म्मफलरूपशरीरधारिजीवनिर्म्मितत्वाभावमात्रेणापौरुषेयत्वं (वेदस्य) विवक्षितमिति चेन्न । जीवविशेषैरग्निवाय्यादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्त्वात् । 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यात् (ऐ० ब्रा० ५।३२।) इति श्रुतेः । ईश्वरस्य अग्न्यादि-प्रेरकत्वेन निर्म्मातृत्वं द्रष्टव्यम्" ।

(श्रीसायणाचार्यविरचित-ऋग्वेदभाष्योपोद्घात)

३

—:(०):—

४—ईश्वरावतार सूर्य्य नामक देवताने वेद बनाए हैं। (२४ मत)

जिसप्रकार सम्पूर्ण देवताओंमें (३३ देवताओं में) अग्नि-वायु-सूर्य्य ये तीन अभिमानी-देवता श्रेष्ठ हैं, एवमेव इन तीनों में अभिमानी सूर्य्यदेवता को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। द्युलोकस्थ भौतिकसूर्य्य के अभिमानी-देवता सूर्य्यदेवता से ही मध्यमस्थानीय (अन्तरिक्षस्थानीय) वायु, एवं पृथिवीस्थानीय अग्नि

३—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम (शब्द) इन चारों प्रमाणों में से वेद आगमप्रमाण (शब्दप्रमाण) रूप है, यह भी नहीं कहा जासकता। वेद का यह लक्षण मानलेने पर मनुस्मृति आदि इतर ग्रन्थों को भी वेद मानना पड़ेगा। क्योंकि यह भी शब्दप्रमाणकोटि में अन्तर्भूत है। 'समयबलानुसार सम्यग्रूप से परोक्षानुभव का साधक प्रमाण ही आगम प्रमाण है' इस आगमलक्षण की व्याप्ति स्मार्त्तग्रन्थों में भी होरही है। यदि कहो कि, हम आगम का 'अपौरुषेय होता हुआ परोक्ष अनुभव का साधक प्रमाण ही आगम है', यह लक्षण करेंगे, तो इस से भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि वेद को परमेश्वर पुरुषने बनाया है, इसलिए वेद पौरुषेय है। फलतः उक्तलक्षण अव्याप्त होजायगा। पुरुष का अर्थ 'शरीरधारी जीवपुरुष' मानलेने से भी काम नहीं चल सकता। कारण 'उसके हजार मस्तक हैं, हजार आंखें हैं' इत्यादि श्रुतिएं स्पष्ट ही ईश्वर को शरीरधारी बतला रही हैं। 'शरीरधारी जीवधारी जीवपुरुष' के ग्रहण से भी लक्षणसमन्वय नहीं होसकता। क्योंकि 'जीवविशेष अग्नि-वायु-सूर्य्य से वेदों की उत्पत्ति होती है'। ईश्वर अग्न्यादि देवताओं को वेदनिर्म्माण के लिए प्रेरित करता है।

—:*:—

का जन्म हुआ है—* । इसप्रकार वायु, अग्नि के स्वरूपसमर्पक सूर्य्यदेवने ही तीनों वेद (ईश्वरेच्छा से) उत्पन्न किए हैं । इत मत का समर्थक निम्नलिखित बचन है—

१—तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥
वह्निरादित्यो भवति । स तिस्रो वाचः प्रेरयति-ऋचो, यजूंषि, सामानि ।
ऋतस्यादित्यस्य कर्म्माणि ब्रह्मणो मतानि । एष एवैतत् सर्वमक्षरम् ।
—या० नि० परिशिष्ट १४ ।

४

५—ईश्वरावतार सर्वहुत यज्ञपुरुषने वेद बनाए हैं । (२५ मत) ।

यज्ञपदार्थ सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी आदि की भाँति आधिभौतिक जड़पदार्थ है । इस यज्ञ के अभिमानी देवता भगवान् विष्णु हैं, अतएव "यज्ञो वै विष्णुः" "विष्णुर्वै यज्ञः" इत्यादि रूप से दोनों को एक वस्तु मान लिया जाता है । यह विष्णुदेवता यजनीय, दूसरे शब्दों में पूजाई होने से भी "यज्ञ" नाम से व्यवहृत किए जाते हैं । यज्ञमूर्त्ति इन्हीं विष्णुभगवान् से सम्पूर्ण वेद उत्पन्न हुए हैं, जैसा कि आगे के मन्त्र से स्पष्ट है—

---

* भवद् भूतं भविष्यच्च जङ्गमं स्थावरं च यत् । अस्यैके सूर्य्यमेवेदं प्रभवं प्रलयं विदुः ॥ १ ॥
कृत्वैष हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति । देवान् यथायथं सर्वान्निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ॥ २ ॥
दिव्यौ दिव्यप्रसूत्रौ द्वावग्नी मध्य (म) पार्थिवौ ।.. ॥ ३ ॥

—बृहद्देवता

१—वह वह्नि (सावित्राग्निरूप आदित्य) ऋत (परमेष्ठी) ब्रह्म की मनोमयी (सोममयी) विश्वधात्री (विश्व को धारण करने वाली) वाक् को (आम्भृणीवाक् को), एवं ऋग् यजुःसामात्मिका त्रयीवाक् को प्रेरित करता है । जिसप्रकार गोपति (ग्वाले) को ढूंढतीं हुईं गाएँ उसकी ओर अनुगत होजातीं हैं, एवमेव कामनामयी बुद्धिरूपा सौररश्मिएं (रश्मिरूपगाएं) गोपतिस्थानीय (पारमेष्ठ्य) सोम की ओर अनुगत रहतीं हैं । वह्नि इस मन्त्र में आदित्य है । ऋक्–यजुः–सामरूप तीनों वाक्प्रपञ्चों को वह वह्निरूप आदित्य ही प्रेरित करता है ।.......... + + + + ।

१—तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ (यजुः सं० ३१) ।

५

—*—

उक्त पांचों ही मतों का—"वेद का मुख्य कर्त्ता स्वयं ईश्वर नहीं, अपितु ईश्वर के अवतार हैं। अवतारकृत शब्दराशिरूप यह वेद पौरुषेय है, अनित्य है, प्रवाहनित्य है" इस प्राचीनन्यायमत का समावेश है । इसी आधार पर हमने इन पांचों मतों का उक्त प्राचीनन्यायमत में अन्तर्भाव माना है ।

३—वेद ईश्वरावतारकृत हैं, पौरुषेय हैं, प्रवाहनित्य हैं । (प्राचीनन्यामत)

१—(२१)—ईश्वरावतार ब्रह्मा ने वेद का निर्म्माण किया है ।

२—(२२)—ईश्वरावतार मत्स्यभगवान् ने वेद बनाया है ।

३—(२३)—ईश्वरावतार अग्नि–वायु–सूर्य्य ने वेदत्रयी बनाई है ।

४—(२४)—ईश्वरावतार सूर्य्य ने वेद बनाया है ।

५—(२५)—ईश्वरावतार सर्वहुत–यज्ञपुरुष ने वेद बनाया है ।

इति-प्राचीनन्यायमतप्रदर्शनम्

३

—*—

१—उस सर्वहुत नाम के यज्ञपुरुष से ऋक्, साम, छन्दः, और यजुः उत्पन्न हुए हैं ।

श्रीः

इति–पञ्च–(५)–अवान्तरमतयुक्तं

प्राचीनन्यायाभिमत–मतप्रदर्शनम्

३

श्रीः

इति-सप्त-(७)-अवान्तरमतयुक्तं
प्राधानिकाभिमत-मतप्रदर्शनम्
४

---*---

श्रीः

इति-सप्त-(७)-अवान्तरतमयुक्तं
प्राधानिकाभिमत-मतप्रदर्शनम्

४

सांख्यदर्शनानुगत-दृष्टिकोण—

अब क्रमप्राप्त सांख्यमत का विचार कीजिए। "प्रधाना" नाम से प्रसिद्धा प्रकृति के आधार पर प्रतिष्ठित यह दर्शन "प्राधानिकदर्शन" नाम से प्रसिद्ध है। इस के मतानुसार वेद अनित्य है, अपौरुषेय है। जिसप्रकार सूर्य्य, पृथिवी भाँति चन्द्रमा, वृत्ताङ्कुर, पर्वत आदि प्राकृतिक पदार्थ अपने आप समय पर उत्पन्न होजाते हैं, उसीप्रकार (प्राकृतिक नियमों के अनुसार) वेद भी समय समय पर अपने आप उत्पन्न हुआ करते हैं। प्राकृतिक पदार्थों की भाँति वेद भी प्रावाहिक है, उत्पत्ति-विनाशशाली है, अतएव हम इसे सर्वथा अनित्य ही कहेंगे। समय समय पर उत्पन्न होने वाले, एवं समय समय पर नष्ट होने वाले वेद कभी नित्यसिद्ध नहीं माने जासकते। वेदों की नित्यता प्रकृतिसिद्ध है, परन्तु साथ ही में हम इस के बनाने वाले किसी पुरुषविशेष को नहीं पाते, अतः कहेंगे हम इसे अपौरुषेय ही। निम्नलिखित प्राधानिक सूत्र उक्त मत का ही समर्थन कर रहे हैं—

१—"न नित्यत्वं, वेदानां कार्य्यत्वश्रुतेः" (सां० ५।४५।)।

२—"न पौरुषेयत्वं, तद् कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्" (५।४६।)।

३—'मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्त्वात्" (५।४७।)।

४—"नापौरुषेयत्त्वान्नित्यत्त्वं, अङ्कुरादिवत्" (५।४८।)।

५—''तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादि-प्रसक्तिः" (५।४९।)।

६—"यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते-तत्पौरुषेयम्" (५।५०।)।

"स तपोऽतप्यत, तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त" [प्रजापतिने तप किया। इस तप से तीन वेद उत्पन्न हुए] इत्यादि श्रुतियोंनें स्पष्ट शब्दों में वेद की कार्य्यता ही सिद्ध की है। वेद सूर्य्यचन्द्रादिवत् उत्पन्न होने वाला कार्य्यविशेष है। कार्य्य अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्तभावापन्न होने से सर्वथा अनित्य है। ऐसी दशा में कार्य्यरूप इन वेदों को हम अवश्य ही अनित्य मान सकते हैं ॥ १ ॥

इतर कार्य्यों की भाँति कार्य्यकोटि में प्रविष्ट होते हुए वेद यदि अनित्य हैं, तो क्या इन्हें पौरुषेय माना जासकता है ?, इस प्रश्न का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, वेद पौरुषेय नहीं है। कारण, इसके

निर्म्माता पुरुष का हम सर्वथा अभाव पाते हैं । सांख्यशास्त्र प्राधानिकशास्त्र है । वह ईश्वर नाम के पुरुष-विशेष की सत्ता अवश्य मानता है, परन्तु उसका विश्व से वह कोई सन्बन्ध नहीं मानता । प्रकृति की व्यक्तावस्था ही सांख्यमतानुसार सर्ग है, व्यक्त की अव्यक्तावस्था ही प्रलय है । इसी प्रकृति के कारण उक्त दर्शन "प्राधानिक" नाम से भी प्रसिद्ध है । ईश्वरपुरुष कार्य्यकारणातीत बनता हुआ सर्वथा निर्लेप है । इसी अभिप्राय से—"**ईश्वरासिद्धेः**" (सा॰ सू॰) यह कहा गया है । जब ईश्वरपुरुष का किसी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, तो ऐसी दशा में हम उसे वेद का कर्त्ता क्योंकर मान सकते हैं । फलतः इन अनित्य, किंवा प्रवाहनित्य प्राकृतिक वेदों का अपौरुषेयत्व सिद्ध होजाता है ॥ २ ॥

ईश्वरपुरुष कर्त्ता न सही, सुप्रसिद्ध पुरुष (महर्षि आदि) को ही क्यों न वेद का कर्त्ता मान लिया जाय ?, इस बिप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए आगे जाकर सूत्रकार कहते है कि, संसार में 'मुक्त' 'अमुक्त' भेद से पुरुषवर्ग दो भागों में विभक्त है । मुक्तात्मा पुरुष यद्यपि सर्वज्ञ होने से वेदरचना में समर्थ है, तथापि सर्वथा असंग होने से ईश्वरपुरुषकोटि में आता हुआ यह वेदनिर्म्माण की इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । इधर अमुक्तात्मा असर्वज्ञ, अतएव भ्रान्त बनता हुआ वेदरचना में अयोग्य है । इसप्रकार मुक्त-अमुक्त दोनों ही पुरुषवर्ग वेदरचना के सम्बन्ध में असंग-असर्वज्ञ क्रमशः इन दोनों कारणों से अयोग्य ठहर जाते हैं । फलतः वेदों का अपौरुषेयत्त्व अक्षुण्ण बना रह जाता है ॥ ३ ॥

यदि वेद को अपौरुषेय माना जायगा, तो इसे नित्य भी मानना पड़ेगा ?, इस आपत्ति का निराकरण करते हुए आचार्य्य कहते हैं कि यह कोई नियम नहीं है कि—जो अपौरुषेय हो, वह नित्य ही हो । अङ्कुर, लता, वृक्ष आदि का कोई कर्त्ता नही है । ये अपने आप प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले अपौरुषेय पदार्थ हैं । फिर भी ये अनित्य हैं । तथैव अपौरुषेय वेद भी अनित्य ही है ॥ ४ ॥

"क्षित्यङ्कुरादि का कर्त्ता तो कोई अवश्य है, परन्तु वह हमें चर्म्मचक्षु से दिखलाई नहीं देता । वह हमारे लिए अदृश्य है । अदृश्यपुरुष से उत्पन्न, अतएव पौरुषेय अङ्कुरादि अनित्य हैं । ऐसी स्थिति में वेद की अनित्यता में आप अङ्कुरादि दृष्टान्त को उपस्थित नहीं कर सकते" ?, यदि कोई यह आक्षेप करै, तो इस का समाधान यही है कि, यदि अङ्कुरादि का कोई कर्त्ता माना जायगा, तो '**दृष्टबाधदोष**' उपस्थित होगा । "जो जो पौरुषेय (पुरुष से उत्पन्न) हैं, वे वे शरीरजन्य हैं" यह सर्वसिद्धा व्याप्ति है । ऐसी अवस्था में यदि अङ्कुरादि पौरुषेय होते, तो उनका कर्त्ता कोई शरीरी अवश्य ही उपलब्ध होता । परन्तु उपलब्ध नहीं होता, अतः हम वेदवत् अङ्कुरादि को अपौरुषेय ही मान सकते हैं ॥ ५ ॥

वादी पुनः प्रश्नाक्षेप करता है कि, "आदिपुरुष के मुख से वेद निकले हैं, यह सर्वसम्मत (श्रुति-सम्मत) पक्ष है । ऐसी स्थिति में पुरुषनिःश्वासरूप इन वेदों को हम अवश्य ही पौरुषेय कह सकते हैं" इस आक्षेप का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, पौरुषेयत्त्व का—'पुरुषोच्चरितमात्रत्त्वं पौरुषेयत्त्वम्'' यह लक्षण नहीं है । पुरुष के मुख से निकला है, इसीलिए इसे पौरुषेय नहीं माना जासकता । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, सुषुप्तिकाल में पुरुष (जीवात्मा) सर्वथा निर्व्यापार है । उस अवस्था में श्वास-प्रश्वास अविकलरूप से निकलते रहते हैं । ये व्यापार सर्वथा अपौरुषेय हैं । इन्हें कोई पौरुषेय नहीं कहता । वस्तुतः पौरुषेय का—"जिस पदार्थ के देखते ही–'यह पदार्थ अमुक व्यक्ति के द्वारा बड़ी बुद्धि-

मानी से बनाया गया है"—यह भाव उत्पन्न होजाय, वही पौरुषेय है" यह लक्षण है। वेद अबुद्धि-पूर्वक है। घटपटादि पदार्थ ही कृतबुद्धिविषयक बनते हुए पौरुषेय हैं। वेद तो आदिपुरुष के मुख से बिना प्रयास के अपने आप ही निःश्वासवत् निकला हुआ है। ऐसी स्थिति में इसे कथमपि पौरुषेय नहीं कहा जासकता ॥ ६ ॥

इस मत के अनुसार वेदों का ईश्वर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वेद प्राकृतिक-तत्व है। इसी सांख्यमत के आधार पर सात अवान्तर मत और होजाते हैं। संक्षेप से इनका भी अत्र दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१-प्रकृतिसिद्ध अग्नि-वायु-सूर्य्य, इन तीनों भौतिक पदार्थों से तीनों वेद अभिन्न हैं।

(२६ मत)

नव्यन्यायमतानुसार अग्नि-वायु-सूर्य्य-इन तीनों भौतिक पदार्थों से क्रमशः तीनों वेदों की उत्पत्ति बतलाई गई थी (देखिए नव्य-न्या० ५ मत), एवं **प्राचीनन्यायमतानुसार** ईश्वरावतार इन तीनों के अभिमानी-देवताओं से क्रमशः तीनों वेदों की उत्पति बतलाई गई थी (देखिए प्रा० न्या० म० ३ मत)। इन दोनों मतों से सर्वथा विलक्षण एक मत यह भी है कि, न इन भौतिक अग्न्यादि पदार्थों से वेद उत्पन्न हुए, एवं न इन के अभिमानी-देवताओं से वेद उत्पन्न हुए। अपितु इन तीनों भौतिक पदार्थों का ही नाम वेद है। दूसरे शब्दों में-इनमें और वेदों में जन्य-जनकभाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु दोनों में अभिन्नता है। अग्नि ही ऋग्वेद है। हंस नाम से प्रसिद्ध वायु ही यजुर्वेद है। आदित्य ही सामवेद है। कारण स्पष्ट है। जब हम तीनों वेदों को उठाकर देखते हैं, तो उनमें क्रमशः हमें ऋग्वेद में विभूतियुक्त अग्नि का, यजुर्वेद में विभूतियुक्त वायु का, एवं सामवेद में विभूतियुक्त सामवेद का ही निरूपण मिलता है। जिसप्रकार प्रकृतिसिद्ध **व्याकरणादि** विद्याओं के प्रतिपादक शास्त्र **व्याकरणादि** शब्दों से व्यवहृत होते हैं, एवमेव अग्नि-वायु-सूर्य्यरूप तीनों वेदों के प्रतिपादक वेदग्रन्थ भी इन्हीं शब्दों से व्यवहृत देखे जाते हैं। अथर्ववेद ने स्पष्टशब्दों में वेद, एवं देवताओं का अभेद बतलाते हुए इसी मत का समर्थन किया है, जैसा कि निम्न-लिखित वचन से स्पष्ट होजाता है—

१—येऽर्वाङ् मध्य उत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥

—अथर्वसं० १०।८।१७।

१

———

१—जो (अल्पज्ञ) मनुष्य प्रथम (अर्वाक्) कोटि के ऋग्वेद के विद्वान् के सम्बन्ध में, मध्यम कोटि के यजुर्वेद के विद्वान् के विषय में, एवं तृतीय (पुराण) कोटि के सामवेद के विद्वान् के सम्बन्ध में निन्दापरक वचनों का प्रयोग करते हैं, दूसरे शब्दों में जो हतधी वेदवेत्ता विद्वान् की अवहेलना करते हैं, वे आदित्य, अग्नि, वायु की ही निन्दा करते हैं। श्रुति का अभिप्राय यही है कि, ऋक्-यजुः-साम का ज्ञाता विद्वान् अग्नि-वायु-सूर्य्यमूर्त्ति है। श्रुति का उक्त कथन तभी सुसङ्गत होसकता है, जब कि वेदों को देवताओं से अभिन्न मान लिया जाय।

२–प्रकृतिसिद्ध भौतिक सूर्य्य तीनों वेदों से अभिन्न है। (२७ मत)

नव्यन्यायानुसार भौतिक सूर्य्य से तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं (देखिए नव्यन्याय० ६ मत)। **प्राचीन-न्यायानुसार** ईश्वरावतार अभिमानी सूर्य्य से तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं (दे० प्रा० न्या० ४ मत)। परन्तु **प्रकृत मतानुसार** भौतिक प्राकृतिक सूर्य्य, और तीनों प्राकृतिक वेद अभिन्न हैं। सूर्य्य और वेदों का जन्य-जनकभाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु सूर्य्य ही साक्षात् वेद है। किंवा त्रयीवेद ही साक्षात् सूर्य्य है। जिसप्रकार 'आगमशास्त्र' में प्रधानरूप से पृथिवी के पदार्थों का ही निरूपण हुआ है, एवमेव इस निगम (वेद) शास्त्र में प्रधानरूप से सौरपदार्थों का निरूपण हुआ है। अग्नि–वायु–आदित्यादि सम्पूर्ण देवता सूर्य्य का ही विवर्त्त-वाद है—"नूनं जनाः–सूर्येण प्रसूताः"। सौरब्रह्माण्डमय विश्व (रोदसीत्रैलोक्य) का विज्ञानप्रतिपादक शस्त्र ही वेदशास्त्र है। इस मत का समर्थक निम्न लिखित श्रौतप्रमाण हमारे सामने आता है—

१–सैषा त्रयीविद्या तपति, य एष तपति। (शत० १०।५।३।)

२–आदित्यो वा एष एतन्मण्डलम्। तत्र ता ऋचः, तदृचां मण्डलम्। स ऋचां लोकः। अथ य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चिर्दीप्यते, तानि सामानि। स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्मण्डलेऽर्चिषि पुरुषः, तानि यजूंषि। स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति, य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः।

(नारायणोपनिषत्)

३–यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थम्। ता ऋचः। स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम्। तानि सामानि। स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः। तानि यजूंषि। स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति, तद्धैतदविद्वांस आहुः-त्रयी वा एषा विद्या तपतीति। वाग्हैव तत् पश्यन्ती वदति।

(शत० १०।५।४)।

१—वह यह त्रयीविद्या ही तप रही है, जो कि यह सूर्य्य तप रहा है।

२–यह आदित्यरूप मण्डल तप रहा है। इस (सौरमण्डल) में जो ऋचाएँ हैं, वह ऋचाओं का मण्डल है। वह ऋचाओं का लोक है। जो कि इस मण्डल में अर्चि (प्रकाश) प्रदीप्त हो रही है, वे साम हैं। वह सामों का लोक है। एवं जो कि इस मण्डल में अर्चिर्भाग (के केन्द्र) में पुरुष है, वे यजु हैं। वह यजुओं का लोक है। इसप्रकार यह त्रयीविद्या ही तप रही है, जो कि इस आदित्य के केन्द्र में हिरण्मय-पुरुष (तप रहा) है।

३–जो कि यह मण्डल (सूर्य्यबिम्ब) तप रहा है, वह "**महदुक्थ**', किंवा "**महोक्थ**' है। वे ऋचाएँ हैं। वह ऋचाओं लोक है। जो कि यह अर्चिर्मण्डल (प्रकाशमण्डल) प्रदीप्त हो रहा है, वह **महाव्रत** है। वे साम हैं। वह सामों का लोक है। एवं जो कि इस मण्डल (बिम्ब के केन्द्र) में जो पुरुष है, वह **अग्नि** है। वे यजु हैं। वह यजुओं का लोक है। इसप्रकार यह त्रयीविद्या ही (सूर्य्यरूप से) तप रही है। (उस युग के) साधारण, शास्त्रानभिज्ञ मनुष्य भी इस सूर्य्य के लिए–'अरे! यह त्रयीविद्या तप रही है, यह कहते थे। वे वाङ्मय सूर्य्य को, किंवा सूर्य्यरूपा 'पश्यन्ती' नाम की वाक् को देखकर ही ऐसा कहते थे। अथवा सूर्य्यरूपा स्वयं पश्यन्ती वाक् ही सर्वसाधारण को कहती है कि, देखो! मै त्रयीविद्यामयी हूँ।

४–सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता-ऋचो, यजूंषि, सामानि । ××× । सा या सा वागसौ स आदित्यः । ××× । मण्डलमेवर्चः । अर्चिः सामानि । पुरुषो यजूंषि । (शत० १०) ।

२

——— * ———

३–प्रकृतिसिद्ध अग्नीषोमात्मक भौतिक यज्ञ तीनों वेदों से अभिन्न है । (२८ मत)

नव्यन्यायानुसार भौतिक यज्ञ से तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं— (दे०न०न्या० ७ मत) । प्राचीनन्याया-नुसार भौतिक यज्ञ के अभिमानी देवता, ईश्वरावतार यज्ञपुरुष से तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं—(दे०प्रा०न्या० ५ मत) । परन्तु प्रकृतमतानुसार वेद और भौतिकयज्ञ अभिन्न हैं । यज्ञ ही वेद है, वेद ही यज्ञ है । दोनों में जन्य–जनकभाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु अभेद–समम्बन्ध है । सम्पूर्ण वेद में यज्ञ ही का तो प्रतिपादन हुआ है । यज्ञ से अतिरिक्त वेद में और है क्या । हौत्र-औद्गात्र-आध्वर्य किंवा शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह्–इन कर्म्मों की समष्टि का ही नाम यज्ञ है । ऋग्वेद से होता के द्वारा ऋङ्मय हौत्र, एवं शस्त्र कर्म्म होता है । यजुर्वेद से अध्वर्यु के द्वारा यजुर्मय आध्वर्य्यव, एवं ग्रहकर्म्म सम्पन्न होता है । सामवेद से उद्गाता नाम के ऋत्विक् के द्वारा औद्गात्र, एवं स्तोत्रकर्म संपन्न होते हैं । इसप्रकार तीनों वेद एकमात्र यज्ञकर्म्म का स्वरूप सम्पादन करते हुए वास्तव में यज्ञात्मक ही हैं । यही सिद्धान्त निम्न लिखित वचनों से प्रतिध्वनित हो रहा है—

१—ब्रह्म वै यज्ञः ।

२—सैषा त्रयीविद्या यज्ञः । (शत० १।१।४।३) ।

३—एतावान् वै सर्वो यज्ञो यावानेष वेदः । (शत० ५।५।६।) ।

४—वाग्वा यज्ञः (ऐ० ब्रा० ५।२४।) ।

५—वागविवृताश्च वेदाः (मुण्डक) ।

—:○:—

४–सो यह वाक् ऋक्, यजुः, साम भेद से तीन भागों में विभक्त है । मण्डल ही ऋचाएँ हैं । अर्चि साम है । पुरुष यजु है । सो यह वाक् यही साक्षात् सूर्य्य है ।

—: (*) :—

१—ब्रह्म [वाङ्मयवेदब्रह्म] ही यज्ञ है ।

२—ऋग्–यजुः–सामात्मिका त्रयीविद्या यज्ञ है ।

३—इतना हीं यह सम्पूर्ण यज्ञ है, जितना कि यह सम्पूर्ण वेद है ।

४—वाक् [वेदमयीवाक्] ही यज्ञ है ।

५—वाक् का विवर्त्तभाव [फैलाव] ही वेद है ।

—:*:—

४—प्रकृतिसिद्ध कालचक्र से वेद उत्पन्न हुआ है। (२९ मत)

प्रजापति से आरम्भकर स्थावरजङ्गमात्मक सम्पूर्ण विश्वचक्र एकमात्र **'कालचक्र'** की गति से ही उत्पन्न हुआ है। सब का प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण कालचक्र ही है। इसी प्राकृतिक कालचक्र के अनुसार वेद भी उत्पन्न हुआ है। इस मत के समर्थक निम्न लिखित वचन हैं—

१-सप्तचक्रा वहति काल एष सप्तास्य नाभोरमृतत्वं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यर्वाक् कालः स ईयते प्रथमोनु देवः ॥ १ ॥
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः।
तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥२॥
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम्।
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ॥३॥
कालो ह भव्यं भूतं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥४॥

--अथर्वसंहितायाम्

४

—————*—————

५—सृष्टि के आरम्भ में यह वेद प्रकृति के अनुसार स्वयं उत्पन्न हुआ है। [३० मत]

सृष्टि के आदिकाल में [आरम्भ में] वेद स्वयमेव प्रादुर्भूत हुए हैं। जिस वेदराशि में मनुष्यबुद्धि से सर्वथा परे की अलौकिक विद्याओं का निरूपण हुआ है, उस अलौकिक वेदशास्त्र का निर्म्माण मनुष्य करै,

————————

१—यह (सम्वत्सररूप) कालचक्र सात चक्रों (सात अहोरात्र वृत्तों) का वहन करता है। इस कालचक्र (रूप सम्वत्सर) के (सात अहोरात्रवृत्तों के कारण) सात केन्द्र हैं। अमृतभावापन्न सूर्य्यकेन्द्र इस चक्र का अक्ष (धुरा) है। ऐसा यह कालचक्र इन सम्पूर्ण [सातों] भुवनों को अपने अवाङ् प्राण से [मर्त्यप्राण से] प्रेरित करता है। यह कालचक्र सब का आदिदेव है।१। काल सबका ईश्वर है। स्वयम्भू प्रजापति का भी यह पिता (उत्पादक) है। इसी से सब कामनाओं का उदय हुआ है। इसी से कामनापूर्वक सबकुछ उत्पन्न हुआ है। उत्पन्न यह सम्पूर्ण प्रपञ्च इसी कालचक्र पर प्रतिष्ठित है।२। काल ही ब्रह्म (स्वयम्भू) बनकर परमेष्ठी को धारण करता है। काल ने प्रजा उत्पन्न की है। काल ने ही सर्वप्रथम प्रजापति को उत्पन्न किया है।३। कालने हीं भूत भविष्यत् का निर्म्माण किया है। कालने हीं सृष्टि के आरम्भ में वेदमन्त्र उत्पन्न किए हैं। काल से ही ऋचाएँ उत्पन्न हुई हैं। काल से ही यजु उत्पन्न हुआ है।।४०।।

[विस्तार के लिए देखिए—**'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'** नामक सहस्र-पृष्ठात्मक स्वतन्त्र-निबन्ध]—

———*———

यह कथमपि सम्भव नहीं है । समुद्र-पर्वतादि पदार्थों का निर्म्माण जैसे मनुष्यशक्ति के बाहिर की बात है, एवमेव प्राकृतिक, सत्यसंहित वेद भी असत्यसंहित मनुष्य की असत्यकृति से एकान्ततः बहिर्भूत है । "ईश्वरने वेदों को बनाया होगा"–यह कहना भी सुसङ्गत प्रतीत नहीं होता । कारण स्पष्ट है । पहिले तो ईश्वर की सत्ता मानना ही कठिन है–[ईश्वरासिद्धेः०] शब्दबल के आधार पर यथाकथंचित् यदि ईश्वर की सत्ता मान भी लीजाती है, तब भी उसे क्लेश–कर्म्म–विपाक–आशयादि से सर्वथा असंस्पृष्ट ही मानना पड़ेगा । न उस में क्रिया है, एवं न प्रवृत्तियों के मूलकारण राग-द्वेष का ही उस में समावेश है । वह तो (विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के अनुसार] **नित्यशुद्ध**, नित्यबुद्ध, **नित्यमुक्त, निष्क्रिय, निरञ्जन, अनन्तकल्याणगुणाकर** है । न वह विश्व का कर्त्ता माना जासकता, न उसे विश्वावयवभूत वेद का कर्त्ता कहा जासकता । विश्व के यच्चयावत् पदार्थ **नित्य-प्रकृतिजात-पुरुषजात** भेद, से तीन भागों में विभक्त हैं । **आकाश–परमाणु आदि** पदार्थ नित्यजात हैं । नित्यसिद्ध हैं । ये किसी से उत्पन्न नहीं हुए हैं, अपितु स्वयंसिद्ध है । **सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–ग्रह–नक्षत्रादि** पदार्थ प्रकृतिजात हैं । इन्हें हीं **प्राकृतिक** कहा जाता है । एवं **गृह–वस्त्र–पुस्तक–घट** आदि पदार्थ पुरुषजात हैं । ये पदार्थ **पौरुषेय** कहलाते हैं ।

उक्त विभाग के अनुसार किसी ने वेदपदार्थ का नित्यसिद्ध पदार्थों में अन्तर्भाव माना है, किसी ने प्रकृतिजात में, एवं किसी ने पुरुषजात में इनका समावेश माना है । ये विभाग केवल व्यावहारिक हैं । यदि व्यापकदृष्टि से विचार किया जाता है, तो **सर्वसाक्षी, निराकार, चिद्घन पुरुष** (ब्रह्म), एवं तत्सम्बन्धिनी **प्रकृति** देवी के अतिरिक्त और कुछ भी नित्य नहीं है—**"प्रकृति पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि"** । कोई पदार्थ **क्षण**, किंवा त्रुटि कालपूर्व, एवं कोई परार्ध्यकालपूर्व उत्पन्न हुआ है । उत्पन्न सब हैं । इसी प्रकार पुरुषजात–विभाग का भी कोई मूल्य नहीं है । जिन पुरुषों (मनुष्यों) से गृह–वस्त्रादि पौरुषेय–पदार्थों का निर्म्माण माना जाता है, वे पुरुष भी प्रकृतिपरतन्त्र हैं । उनका जन्म, मृत्यु, स्वरूपसंघठन, स्वभाव, मनोवृत्ति, कर्म्मसामर्थ्य, ज्ञानशक्ति, कहाँ तक गिनावें, स्वयं उनकी स्वरूपसत्ता की बागडोर भी प्रकृतिदेवी के हाथ में ही है–**'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति'** । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि, पुरुषपौरेय (ईश्वर) सर्वथा निर्लेप है । सबकुछ प्रपञ्च एकमात्र प्रकृतिसिद्ध ही है । इसी सर्वसम्मत, एवं सर्वानुभूत सामान्य सिद्धान्त **के अनुसार** सृष्टि के आदि में सूर्य्य–चन्द्रादि इतर प्राकृतिक पदार्थों की भाँति वेद भी प्रकृतिसिद्ध होते हुए स्वतः ही उत्पन्न हुए हैं । इसी मत का समर्थन करते हुऐ आप्तपुरुष कहते हैं—

१—सैषा त्रयीविद्या प्रथमं जायते, यथैवादोऽमुत्राजायत–एवम् ।
(शत० २।३।२०) ।

२—वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदः पृष्ठतः कृताः ।
(म० शा० कपिलवाक्य) ।

५

१—यह त्रयीविद्या सर्वप्रथम उसी प्रकार उत्पन्न हुई है, जैसेकि पूर्वकाल में यह उत्पन्न हुई थी ।

२—वेद लोकों के सम्बन्ध में प्रमाणमात्र है । वेदों का निर्म्माण पीछे से नहीं हुआ है । अपितु ये प्रकृतिसिद्ध हैं ।

६–तीनों प्राकृतिक लोकों से क्रमशः तीन वेद उत्पन्न हुए हैं। [३१ मत]

भूः–भुवः–स्वः नाम से प्रसिद्ध पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–नाम के तीन लोक हैं। इन से क्रमशः पृथिवी से ऋग्वेद, अन्तरिक्ष से यजुर्वेद, द्युलोक से सामवेद उत्पन्न हुआ है। ऐसा इसलिए मानना पड़ता है कि, तीनों वेदों में क्रमशः ऋग्वेद में प्रधानरूप से पार्थिव आग्नेय–पदार्थों का, यजुर्वेद में आन्तरिक्ष्य वायव्य–पदार्थों का, एवं सामवेद में दिव्य सौर पदार्थों का ही प्रतिपादन देखा जाता है। इसीलिए ऋग्वेद का आरम्भ–"अग्निमीले पुरोहितम्" इत्यादिरूप से पृथिवी के अधिष्ठाता अग्निदेवता को प्रधान मान कर ही हुआ है। 'पुरोहितम्' शब्द ही पृथिवीलोक का परिचायक है। यजुर्वेद के आरम्भ में 'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ–देवः" इत्यादिरूप से वायुदेवता को प्रधानता दी गई है। वायुदेवता अग्नि की ही तरलावस्था है। अतएव यजुर्वेदव्याख्यानभूत "शतपथ' के आरम्भ में–'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" इत्यादिरूप से अग्नि की स्तुति की गई है। एवमेव सामवेद का आरम्भ 'अग्न आयाहि वीतये' इस मन्त्र से हुआ है। 'आयाहि' शब्द द्युलोक का ही सग्राहक है। द्युस्थानस्थ अग्नि वास्तव में पृथिवी पर आता है। इसप्रकार हम तीनों लोकों से ही तीनों वेदों का विकास मान सकते हैं, जैसाकि श्रुति कहती है—

> १—प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयीविद्या संप्रास्रवत्। तामभ्यतपत्। तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रा-स्रवन्त–भूः, भुवः, स्वरिति" (छां. उ. २।२३।)।

६

—:*:—

७—तीन छन्दों, तीन सवनों, एवं स्तोमों से त्रयीवेद उत्पन्न हुआ है। (३२)

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, ये तीन लोक सुप्रसिद्ध हैं। इन तीनों के क्रमशः अष्टाक्षर गायत्रीछन्द, एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द, एवं द्वादशाक्षर जगतीछन्द, ये तीन छन्द हैं। तीनों के क्रमशः त्रिवृत्स्तोम (९ अहर्गणात्मक) पञ्चदशस्तोम (१५ अहर्गणात्मक), एवं एकविंशस्तोम (२१ अहर्गणात्मक) ये तीन स्तोम हैं। एवं तीनों के अष्टवसुदेवतात्मक प्रातःसवन, एकादशरुद्रात्मक माध्यन्दिनसवन, तथा द्वादश–आदित्यात्मक सायंसवन भेद से तीन सवन हैं। प्रातःसवनात्मक, त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न, गायत्रीछन्दोयुक्त पृथिवीलोक से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ है। माध्यन्दिनसवनात्मक, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न, त्रिष्टुप्छन्दोयुक्त अन्त–रिक्षलोक से यजुर्वेद उत्पन्न हुआ है। एवं सायंसवनात्मक, एकविंशस्तोमावच्छिन्न, जगतीछन्दोयुक्त द्युलोक से सामवेद उत्पन्न हुआ है। इस मत की प्रामाणिकता भी यत्र तत्र ब्राह्मणग्रन्थों में स्फुट है।

७

—*—

१—प्रजापति (त्रैलोक्यमूर्त्ति लोकात्मक प्रजापति) ने अपने अवयवभूत तीनों लोकों को तपाया। तप्त इन तीनों लोकों से त्रयीविद्या का स्रोत निकला। पुनः त्रयीविद्या को तपाया। इस तप्त त्रयीविद्या से क्रमशः भूः–भुवः-स्वः रूप तीन महाव्याहृतिएँ उत्पन्न हुईं।

—*—

उक्त सातों मतों में-"वेद प्राकृतिक हैं, कृतक हैं, अपौरुषेय हैं, अनित्य हैं" इस चौथे **सांख्यमत** की समानरूप से व्याप्ति है। अतएव इन सातों को हम सांख्यमत में अन्तर्भूत मान सकते हैं।

४—वेद प्रकृतिसिद्ध हैं। अपौरुषेय हैं। अनित्य हैं। (सांख्यमत)

१-२६—यह वेद प्रकृतिसिद्ध अग्नि-वायु-सूर्य्य से अभिन्न है।

२-२७—यह वेद प्रकृतिसिद्ध सूर्य्य से अभिन्न है।

३-२८—यह वेद प्रकृतिसिद्ध यज्ञ से अभिन्न है।

४-२९—यह वेद प्रकृतिसिद्ध कालचक्र से उत्पन्न हुआ है।

६-३०—यह वेद प्रकृति से स्वतः उत्पन्न हुआ है।

६-३१—यह वेद प्रकृतिसिद्ध तीनों लोकों से उत्पन्न हुआ है।

७-३२—यह वेद प्रकृतिसिद्ध छन्द-स्तोम-सवनों से उत्पन्न हुआ है।

इति-सांख्यमतप्रदर्शनम्

४

—*—

श्रीः

इति–सप्त–(७)–अवान्तरमतयुक्तं
प्राधानिकाभिमत-मतप्रदर्शनम्

४

श्रीः

अथ—सप्त—(७)—अवान्तरमतयुक्तं
वैशेषिकदर्शनाभिमत-मतप्रदर्शनम्

५

श्रीः

अथ–सप्त–(७)–अवान्तरमतयुक्तं
वैशेषिकदर्शनाभिमत–मतप्रदर्शनम्
५

वैशेषिकानुगत–दृष्टिकोण—

महर्षि उलूक (कणाद) के मतानुसार वेद (वेदग्रन्थ) महर्षियों के बनाए हुए हैं, अतएव ये सर्वथा पौरुषेय (मनुष्यकृत) हैं, एवं सर्वथा अनित्य हैं। साथ ही में दृष्टिभेद से वेद अकृतक हैं, **अपौरुषेय हैं,** अतएव सर्वथा **नित्य** भी हैं। **वेद** शब्द शब्दराशिरूप वेदग्रन्थ (वेद की पुस्तक) में भी प्रयुक्त होता है, एवं शब्दप्रतिपाद्या **वेदविद्या** के साथ भी वेदशब्द का सम्बन्ध है। शब्दापेक्षया वेद **पौरुषेय हैं,** अनित्य हैं। एवं विद्यापेक्षया वेद अपौरुयेय हैं, नित्य हैं। लोक में जिन वेदों का पारायण होता है, वे वेद अनित्य हैं। एवं शब्दात्मक वेद से प्रतिपादित विद्यात्मक वेद नित्य हैं। दूसरे शब्दों में–वेदग्रन्थ अनित्य हैं, एवं वेदविद्या नित्या है। इस मत के समर्थक निम्नलिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

१—**'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (वै० द० ६।१।१।)।

२—**'ब्राह्मणे संज्ञाकर्म्म सिद्धिलिङ्गम्'** (वै० द० ६।१।२।)।

३—**'आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्म्मेभ्यः'** (वै० ९।२।१३।)।

इस सूत्रों का तात्पर्य्य यही है कि, वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक ही होती है। हम जब गद्यात्मिका अथवा पद्यात्मिका वाक्यरचना करते हैं, तो उसमें **'प्रज्ञान'** सहकृत **'विज्ञान'** (मनोयोगपूर्विका बुद्धि) की अपेक्षा रहती है। बिना बुद्धि के वाक्यरचना असम्भव है। इधर वेदशास्त्र वाक्यरचना का संग्रहमात्र है। यह बिना बुद्धि के व्यापार के सम्भव नहीं है। बुद्धि परिच्छिन्न तत्त्व है। बुद्धिव्यापार एकमात्र परिच्छिन्न पुरुष का ही धर्म्म है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, वाक्यसंग्रहात्मक यह वेद विद्वान् महर्षियों की कृति है, अतएव यह पौरुषेय है ॥१॥

अपिच **'ब्राह्मण'** नाम से प्रसिद्ध वेदभाग में नामों का जो निर्वचन हुआ है, उस से भी वेद का बुद्धिपूर्वकत्व ही निर्म्माण सिद्ध होता है। **'सोऽरोदीत्–तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्। रुद्रः किल रुरोद'** (वह रोया इस लिए उस का नाम रुद्र होगया, रुद्र रोया) इत्यादिरूप से तत्तन्नामों की व्युत्पत्ति (निर्वचन) की गई है। यह निर्वचन स्पष्ट ही बतला रहे हैं कि, वेदों की रचना पुरुषविशेषों के द्वारा बुद्धिपूर्वक ही हुई है। क्योंकि शब्दों का यथावत् (व्याकरणानुसार) निर्वचन करना मनुष्यबुद्धि का ही काम है ॥२॥

उक्त दोनों सूत्र वेद की पौरुषेयता, एवं अनित्यता का निरूपण करते हैं, एवं तृतीय सूत्र आर्षज्ञान को लक्ष्य में रखता हुआ (शब्दवेदप्रतिपाद्या वेदविद्या को लक्ष्य में रखता हुआ) वेद की अपौरुषेयता, एवं नित्यता का प्रतिपादन करता है। नित्य वेदतत्त्व, किंवा वेदविद्या को ऋषियों ने अपनी आर्षदृष्टि से पहिचाना है। वह आर्षज्ञान (वेदविद्यारूप ज्ञान) सर्वथा अपौरुषेय, एवं नित्य है। इस नित्यज्ञान (नित्यवेद) की प्राप्ति का उपाय एकमात्र धर्म्मबुद्धि ही है। इसप्रकार धर्म्मबुद्धि के द्वारा उस नित्य अपौरुषेय वेद को प्राप्त कर ऋषियोंने जिस शब्द–राशि के द्वारा उसे हमारे सामने रक्खा है, वही वेद पौरुषेय, एवं अनित्यशब्दमय होने से अनित्य है ॥३॥

यही मत सर्वमान्य कहा जासकता है। भगवान् पतञ्जलिने भी इसी वैशेषिक मत को प्रधानता दी है। एवं महाभाष्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार **कैय्यट** एवं **जयादित्यने** भी इसी मत का समर्थन किया है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट होजाता है—

१—'ननु चोक्तं नहि छन्दांसि क्रियन्ते–नित्यानि छन्दांसि–इति। यद्यप्यर्थो नित्यः। या त्वसौ वर्णानुपूर्वी, सा अनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति-काठकम्, कापालम्, मौद्गलम्, पैप्पलादकम्'–इति।

२—'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (४।३।१०३।)। शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः। वाजसनेयिनः। 'कठचरकाल्लुक्' (४।३।१०७)। कठाः, चरकाः–(महा० ४।३।१०६–१०७) इति।

३—'महाप्रलयादिषु वर्णानुपूर्वीविनाशे पुनरुत्पाद्य ऋषयः संस्कारातिशयात् वेदार्थं स्मृत्वा शब्दरचनां विदधतीत्यर्थः' (कैय्यटः ४।३।१०१।)।

४—'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा० सू० ४।३।१०५)। पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण-प्रोक्तेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः–याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि, सौलभानि इति। किंकारणं-तुल्यकालत्वात्। एतान्यपि तुल्यकालानि इति' (म० भा०)। पुराणप्रोक्तेष्विति किम्। याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि, आश्मरथ्यः, कल्पः। याज्ञवल्क्यादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु वार्त्ता। तया व्यवहरति सूत्रकारः' इति। (जयादित्यः)।

५—'तेन दृष्टं साम' (पा० सू० ४।२।७)। वासिष्ठं, वैश्वामित्रं, कालेयम्। तस्य साम्नोर्विशिष्टकार्यविषयोविनियोगो ज्ञानातिशयसम्पत्त्या कलिनाऽऽज्ञायि, तत् तेन दृष्टमित्युच्यते' (कैय्यटः)।

उक्त वचनों का अभिप्राय यही है कि, वेदपदार्थ यद्यपि नित्य है, इसीलिए छन्द को नित्य कहा जाता है, परन्तु वर्णानुपूर्वीरूप शब्द सर्वथा अनित्य है। तत् समय में महर्षिगण उस अपौरुषेय नित्य वेदार्थ (वेदविद्या) का स्मरण करके पौरुषेया अनित्या वर्णानुपूर्वी के द्वारा वेदार्थ को प्रकट किया करते हैं। यही मत विज्ञान-सम्मत है, जैसाकि आगे की 'विज्ञानवेदनिरुक्ति' में स्पष्ट होजायगा। इस मत के आवान्तर सात भेद होजाते हैं। उनका भी अत्र संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—यह वेद अग्नि, वायु, सूर्य्य नाम के तीन देवर्षियों का वाक्य है। (३३ मत)

पुरायुग में (जो कि युग पुराण-महाभारतादि में 'देवयुग' नाम से प्रसिद्ध है) इस पृथिवी पर ही प्रतिष्ठित 'भौमस्वर्ग' में अग्नि-वायु-सूर्य्य नाम की देवजातियाँ अतिसुप्रसिद्ध थीं। जिसप्रकार पृथिवी-लोक-स्थानीय भारतवर्ष में निवास करनें वाले प्रत्यक्षद्रष्टा पुरुष ऋषि एवं महर्षि कहलाते थे, एवमेव भौमस्वर्ग-निवासी मनुष्यविध भौमदेवताओं में जिन देवताओंनें वेदतत्त्व का साक्षात् कर वेदमन्त्रों का निर्म्माण किया था, वे 'देवर्षि' नाम से प्रसिद्ध थे। अग्नि-वायु-सूर्य्य नाम की जातियों में से अग्नि-वायु-सूर्य्य नाम के व्यक्तिविशेषों नें ही मनुष्यों के (भौमपृथिवीलोकनिवासी अस्मदादि मनुष्यों के) लिए क्रमशः ऋग्-यजुः-साम-मन्त्रों का निर्म्माण किया है। प्राचीनन्यायमत के ३ मत विभाग में जिन अग्नि-वायु-सूर्य्य का उल्लेख किया गया है, वे नित्य अभिमानी पुरुषविध अपाद-देवता हैं। एवं प्रकृतमत के अग्न्यादि तीनों देवता अस्मत्सदृश सपाद मनुष्यदेवता हैं। एवं इस मत के देवताओं में यही विशेषता समझनी चाहिए। वे देवता देवता कहलाते हैं, एवं सृष्टि के प्रलयकाल पर्य्यन्तय उनकी प्रावाहिक-नित्यता अक्षुण्ण है। इधर वेद-साक्षात्कर्त्ता, तदनुसार वेदमन्त्र-निर्म्माता मनुष्यविध-देवता महर्षि, किंवा देवर्षि कहलाते थे। साथ ही में भौमस्वर्ग-व्यवस्था के उच्छेद के साथ साथ ही इन भौमदेवताओं का महाभारतकाल में ही उच्छेद होगया है। इस मत का समर्थक निम्नलिखित सायणवचन ही पर्य्याप्त है।

१—'जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्' (ऋ० उपोद्घात)

२

—★—

२—यह वेद अजपृष्णि नामक ऋषियों का वाक्य है। (३४ मत)

भौम पृथिवीलोक की प्रजा मनुष्य कहलाती थी। यह प्रजा चार वर्णों, एवं चार अवरवर्णों में विभक्त थी। वर्णप्रजा के चार विभाग क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से, एवं अवरवर्णप्रजा के चार विभाग क्रमशः अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, म्लेच्छ इन नामों से प्रसिद्ध थे। इनमें वर्णप्रजा का ब्राह्मणवर्ग विद्यातारतम्य से ब्रह्मा-ऋषि-देव-विप्र-ब्राह्मण इन पाँच भागों में विभक्त था। जो भारतीय ब्राह्मण वेदतत्व के द्रष्टा होते थे, उन्हे ही महर्षि, किंवा मनुष्यर्षि कहा जाता था। इन्हीं में अजपृष्णि, सिकता-निवावरी, आक्रुष्टमाष, नाम के तीन प्रसिद्ध महर्षि होगए हैं। प्रकृत मतवादियों का कहना है कि, मनुष्यर्षि वर्ग में प्रसिद्ध अजपृष्णि नामक तपस्वियोंनें हीं वेदमन्त्रों का निर्म्माण किया है। इस मत का समर्थक निम्न लिखित श्रुति वचन है—

१ * अजान् ह वै पृष्णीन्-तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भू-अभ्यानर्षत्।
तद् ऋषयो अभवन्। त एतं ब्रह्मयज्ञमपश्यन्।

२

—*—

१—प्राचीनन्याय मत के ३ मत से गतार्थ।

१ *—मीमांसामत के षष्ठ-मत से गतार्थ।

३—यह वेद अथर्वाङ्गिरा नामक ब्रह्मर्षि का वाक्य है। (३५ मत)

अग्नि की घनावस्था अग्नि है, तरलावस्था वायु है, विरलावस्था आदित्य है। इसप्रकार एक ही अग्निरस तीन स्वरूप धारण कर लेता है–(देखिए• शत० १०।६।५)। इन में घनाग्नि (पार्थिव–अग्नि) से ऋग्वेद का, तरलाग्नि (अन्तरिक्ष्यवायु) से यजुर्वेद का, एवं विरलाग्नि (दिव्य-आदित्य) से सामवेद का विकास हुआ है। ऐसी स्थिति में हम अग्नि की तीन अवस्थाओं से विकसित उक्त तीनों वेदों की समष्टि को–"अग्नि-ब्रह्म" शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। सर्वप्रथम त्रयीरूप इसी अग्निब्रह्म (अग्निवेद) का प्रादुर्भाव होता है, अतएव हम इसे ज्येष्ठब्रह्म कह सकते हैं। इसी प्रकार भृगुतत्त्व–एवं अङ्गिरातत्व, इन दो तत्त्वों की, किंवा दो वेदों की समष्टि **सोमब्रह्म** है। यही **सुब्रह्म** नाम से प्रसिद्ध है।

जेष्ठब्रह्मलक्षण अग्नि तीन लोकों के भेद से तीन आयतनों में प्रतिष्ठित होता हुआ-"**अग्निर्भूस्थानः वायुरन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः**" (या० निरुक्त) इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार तीन भागों में विभक्त होजाता है। अग्नित्रयी से तीन लोक विभक्त हैं, तीनों लोकों से तीन देवता विभक्त हैं, एवं तीनों देवताओं के भेद से तीन वेद विभक्त हैं। "**अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः**" (शत० ब्रा०) इस निगम सिद्धान्त के अनुसार चौथा **आपोलोक** है। इस एक ही लोक में **भृगु** अङ्गिरा नामक स्नेह-तेजो-लक्षण दो प्रकार का सोम प्रतिष्ठित है। **आपः-वायु-सोम** तीनों की समष्टि स्नेहमय भृगुसोम है। **अग्नि-यम-आदित्य** इन तीनों की समष्टि तेजोमय अङ्गिरासोम है। इसप्रकार यह षड्ब्रह्ममूर्त्ति सोम एक ही लोक में प्रतिष्ठित है। इन छओं का लोक एक है, अतएव इनका सोमदेवता भी एक ही माना जाता है। इसीलिए इसका वेद भी एक ही है। षड्ब्रह्ममय सोमावच्छिन्न वही वेद-"**अथर्ववेद**" नाम का चौथा वेद है। इसप्रकार तीन **अग्निवेद**, एक **सोमवेद**, सम्भूय चार वेद होजाते हैं। इन सब विषयों का विशद निरूपण आगे की **विज्ञानवेदनिरुक्ति** में होने वाला है।

उक्त चारों वेदों के प्रवर्त्तक (वक्ता–कर्त्ता) चतुर्मुख ब्रह्मा हैं। जो व्यक्ति वेदशास्त्र का मूलप्रवर्त्तक है, जिसे **जगद्गुरु** की उपाधि से विभूषित किया गया है, वही **ब्रह्मा** नाम से प्रसिद्ध है। देवयुग में भिन्न भिन्न चार वैज्ञानिक आचार्योंनें भिन्न भिन्न चार वेदों का उपदेश दिया है। चारों में वेदप्रवर्त्तकत्व सामान्य है, अतएव व्यासज्यवृत्ति (समुदायवृत्ति) से 'ब्रह्मा' शब्द चारों की समष्टि के साथ सम्बन्ध रखता है। इसी अभिप्राय से एक ही ब्रह्मा को चतुर्मुख मान लिया गया है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि, प्रथम ब्रह्मा **स्वयम्भू** नाम से प्रसिद्ध थे। इन्हें हीं **आदिब्रह्मा** कहा जाता था। दूसरे ब्रह्मा **हिरण्यगर्भ** नाम से प्रसिद्ध थे। तीसरे ब्रह्मा **अपान्तरतमा** नाम से प्रसिद्ध **प्राचीनगर्भ** महर्षि थे, एवं वरुणपुत्र भृगु, ब्रह्मपुत्र अङ्गिरा दोनों मिलकर **अथर्वा** नाम के चौथे ब्रह्मा थे।

उक्त चारों ब्रह्माओं में स्वयम्भू ब्रह्मा पहिले ब्रह्मा थे, साथ ही में देवव्यवस्था के प्रथम प्रवर्त्तक होने से ये प्रथमजदेव (पहिले देव) थे। पश्चिम भारतवर्ष **आर्य्यायण** (ईरान) प्रान्त में बाल्हीक (बलख) नाम की वरुणराजधानी के समीप **पुष्कर** नामक (आजदिन **बुखारा** नाम से प्रसिद्ध) के तीर्थ में ये निवास करते थे। वाल्हीकनगरनिवासी वहाँ के सम्राट् वरुण के औरस पुत्र भृगु थे। अतएव ये **वारुणि** कहलाते थे। आरम्भ में ये बाल्हीक में ही रहते थे। परन्तु विद्योत्कर्ष के प्रभाव से आगे जाकर स्वयम्भू ने इन्हें अपना दत्तकपुत्र बना लिया। तब से इन का भी अभिजन (स्वदेश) पुष्कर ही होगया। ब्रह्मपुत्र अङ्गिरा भी पुष्कराभिजन ही

थे । अपान्तरतमा नाम के प्राचीनगर्भ महर्षि ब्रह्मा के कृत्रिमपुत्र थे । ये सरस्वतीग्राम में निवास करते थे । वितस्ता (झेलम) और सिन्धु नद के सङ्गमस्थान के समीप पश्चिमभारत में सरस्वती नाम की नदी बहती है । इस सरस्वती नदी के सम्बन्ध से ही तत्प्रान्तस्थ ग्राम भी पुराणों में सरस्वतीग्राम् नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है । यहीं सुप्रसिद्ध वरुण के अन्यतम सखा महर्षि वसिष्ठ का आश्रम था । यहीं महर्षि प्राचीनगर्भ रहते थे । अतएव इन्हें पुराणों में "सारस्वतऋषि" नाम से भी सम्बोधित किया गया है । इन चारों में आदिब्रह्मा स्वयम्भू, हिरण्यगर्भ, प्राचीनगर्भ, इन तीनों ब्रह्माओं नें स्वर्गभूमि नाम से प्रसिद्ध प्राग्मेरु (पामीर) प्रदेश में प्रतिष्ठित हिरण्यश्रृङ्ग नाम से प्रसिद्ध पर्वत के शिखर पर हिरण्यश्रृङ्ग से निकलने वाली 'यत्तु' नदी के प्रवाह स्थान में विराजमान होकर त्रयीवेद का निर्म्माण किया था । इससे कुछ समय पीछे भृगु-अङ्गिरा नामक दोनों ब्रह्माओंनें (जोकि अथर्वा नाम से प्रसिद्ध थे) बाल्हीक प्रान्त में प्रतिष्ठित होते हुए अथर्ववेद का निर्म्माण किया था । अर्वाक्कालीन होने से ही यह चतुर्थवेद—"अथ–अर्वाक्-सम्बभूव" इस निर्वचन से अथर्ववेद कहलाया ।

इन चारों में स्वयम्भू शेष तीनों के पिता थे । तीनों ब्रह्मा इनके मानसपुत्र थे । साथ ही में ये तीनों पर्षद्ब्रह्मा भी थे । इसप्रकार एक ही आदिब्रह्मा स्वयम्भूने–हिरण्यगर्भ–अपान्तरतमा–भृग्वङ्गिरा–इन तीनों के संयोग से चारों वेदों को प्रवृत्त किया । इसी समष्टि के कारण स्वयम्भू चतुर्मुख ब्रह्मा कहलाए । इसी आधार पर—"चतुर्मुखब्रह्माने चारों वेद बनाए" यह किंवदन्ती प्रचलित हुई । कुछ भी हो, ये चारों ही चतुर्वेद के प्रवर्त्तक थे, यह निश्चित सिद्धान्त है । इस मत के समर्थक निम्न लिखित प्रमाण हैं—

१—स्वयम्भूः———पुष्कराभिजनः		त्रयीवेदवक्तारः	चतुर्मुखो ब्रह्मा
२—हिरण्यगर्भः——हिरण्यशृङ्गाभिजनः			
३—अपान्तरतमा——सरस्वतीग्रामाभिजनः			
४ { १ वरुणपुत्रो भृगुः २ ब्रह्मपुत्रोऽङ्गिराः	बाल्हीकाभिजनौ	अथर्ववेदवक्तारौ	

१—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्जेष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा, अथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भरद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भरद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥
—मुण्डकोपनिषत्

३

———*———

१—इन दोनों मन्त्रों का अर्थ मीमांसामतान्तर्गत ७ (सप्तम) मत के अर्थ से गतार्थ है ।

४—यह वेद अपान्तरतमा ऋषि का वाक्य है। (३६ मत)

सुप्रसिद्ध "अपान्तरतमा" नाम के महर्षि ने वेद का प्रवचन किया है। यह महर्षि आदिब्रह्मा भगवान् स्वयम्भू के मानसपुत्र थे। सुप्रसिद्ध वेदवक्ता कृष्णद्वैपायन इहीं अपान्तरतमा के अवतार माने गए हैं। महाभारतादि में ये ही प्राचीनगर्भ नाम से भी व्यवहृत हुए हैं। कहीं कहीं इन्हीं को-"सारस्वत-ऋषि" नाम भी सुना जाता है। इस मत का समर्थक निम्न लिखित वचन है।

अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्य्यः स उच्यते।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥
—म० भा० शा० मोक्षधर्म्म०।

४

——*——

५–यह वेद ऊर्ध्वरेता अनेक ऋषियों का वाक्य है। (३७ मत)

गुहानिहित, अलौकिक, आश्चर्य्यमयी, तत्तद् विश्वविद्याओं का साक्षात्कार करने वाले महामर्षियों के मुख से निकली हुई शब्दराशि ही वेद है। जिस समय विश्व की उन्नति-अवनति से सम्बन्ध रखने वाला, २५ हजारवर्ष में "नाक" नाम से प्रसिद्ध कदम्बवृत्तापरपर्य्यायक विष्णुपद की परिक्रमा करने वाला सुप्रसिद्ध ध्रुवनक्षत्र वेदविद्याप्रवर्त्तक अभिजिन्नक्षत्र पर विद्यमान था, उस समय भौमत्रैलोक्य में वेदविद्यापारङ्गत अनेक महर्षि विचरण करते थे। तत् कालीन केवल गृहस्थ ऋषियों की ही संख्या ५०००० (पचास हजार) थी। इनके अतिरिक्त आबालब्रह्मचारी वीतराग महर्षियों की संख्या ८८००० (अट्ठासी हजार) थी। ये ब्रह्मचारी विद्या के अभ्युदय के लिए सांसारिक स्त्रीपुत्रादि साधारण सुख–सामग्री का एकान्त: (जन्म से ही) परित्याग करते हुए विश्व के तत्वानुसंधान में प्रवृत्त रहते थे। ये ही महर्षि ऊर्ध्वरेता कहलाते थे। उन्हीं महा-महर्षियों की प्रतिभा, कार्य्यकुशलता, सत्यप्रवणता, एवं परिपूर्ण–गवेषणा (खोज) का यह फल है कि, आज हम वेदशास्त्र नाम से सुप्रसिद्ध उस दिव्यविभूति के अधिपति बन रहे हैं, जिसके कि सामने वर्त्तमान युग का सुसमृद्ध वैज्ञानिकजगत् भी श्रद्धा से अपना मस्तक नत किए हुए है, एवं जिस योग्यता का ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की कौन कहे, समस्त भूमण्डल के साहित्य में उपलब्ध नहीं होसकता। अस्तु, कहना यही है कि, उर्ध्वरेता इनमहर्षियोंनें ही वेदग्रन्थों का निर्म्माण किया है। इस मत के उपोद्बलक निम्न लिखित प्रमाण–द्रष्टव्य हैं—

१–अष्टाशीति–सहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम्।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव ! ॥
(म. भा. सभा. ११ अ०।) १।

१-हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर। उर्ध्वरेता महर्षि संख्या में ८८००० हैं, एवं प्रजायुक्त गृहमेधी (गृहस्थ) महर्षि ५०००० हैं।१।

२–ब्रह्मकल्पे पुरा ब्रह्मन् ब्रह्मर्षीणां ! समागमे ।
लोकसम्भवसन्देहः समुत्पन्नो महात्मनाम् ॥ २ ॥
तेऽतिष्ठन् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थाय निश्चलाः ।
त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः ॥ ३ ॥
तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागता ।
दिव्या सरस्वती तत्र स्वं बभूव नभस्तलात् ॥ ४ ॥

३–यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः । (शत०ब्रा०) ।१।
एष वै ऋषिरार्षेयो यः शुश्रुवान् । (''...) ।२।
तस्मादेतद् ऋषिणाभ्यनूक्तम् । (''...) ।३।
तदेतद् ऋषिः पश्यन्नभ्युवाच । (''...) ।४।
ये वै ते न ऋषयः पूर्वे प्रेतास्ते कवयः ।
तानेव तदभ्यतिवदति । (तै०ब्रा० ६।४) ।५।

४–नमा ऋषिभ्यो मन्त्रकृदभ्यो मन्त्रविद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः ।
मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्राहुर्दैवीं वाचमुद्यसम् ॥ (मै०श्रुतिः)

२-हे ब्रह्मन् ! पुरायुग (देवयुग) में, जो कि युग ब्रह्मकल्प नाम से प्रसिद्ध है, ब्रह्मर्षियों के समागम में उन महात्मा महर्षियों के हृदय में लोक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हुआ ।

इस सन्देह की निवृत्ति के लिए (विश्वोत्पत्तिविज्ञानार्थ) इन महर्षियोंनें ध्यानयोग का आश्रय लेते हुए, मौनव्रतधारण करते हुए सर्वथा निश्चलभाव से प्रतिष्ठित होते हुए, अन्नाहार का एकान्ततः परित्याग करते हुए, केवल वायु पर अवलम्बित रहते हुए एकसहस्र दिव्यवर्षों तक तप किया ।३।

इस तप के प्रभाव से उत्पन्न उन महर्षियों की दिव्यवाणी (वेदवाणी) सब लोगों नें सुनी । वह दिव्या सरस्वती उन के खथ से अपने आकाशमार्ग से प्रकट हुई ।४।

३–वेदसाक्षात्कर्त्ता, एवं वेदवक्ता ऋषि ही आर्षेय (ऋषिगोत्रप्रवर्त्तक) हैं ।१।
वही ऋषि आर्षेय है, जो कि वेदों को यथावत् सुन चुका है ।२।
इसी अभिप्राय से ऋषिने यह कहा है ।३।
इस सम्पूर्ण वैज्ञानिक रहस्य का साक्षात्कार करके ऋषि कहते हैं ।४।
जो ऋषि हमारे पूर्वज थे, वे ही (वेदमन्त्रों के निर्माता) कवि थे, उन्हीं को यह कह रहा है ।५।

४–मन्त्र बनाने वाले, मन्त्र जानने वाले मन्त्रपति उन ऋषियों को नमस्कार है । मुझे उन मन्त्रकृत् मन्त्रवित्-ऋषियोंनें देवीवाणी का उपदेश दिया है । मैं यावज्जीवन उस उपदेश को न भूलूँ ।

५-यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवा तपसा श्रमेण ।
तां दैवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके ॥
६-ऋषिवचनाच्च । ऋषिवचनं वेदः । यथा किञ्चिदिज्यार्थं आहरेत् । इति ।
(सुश्रुतसूत्रस्थान अ० ४०)

५

—*—

६—यह वेद वसिष्ठादि ७ महर्षियों का वाक्य है। (३८ मत)

यह शब्दात्मक वेद वसिष्ठादि सात महर्षियों का वाक्य है । आर्षसाहित्य में यद्यपि सप्तर्षिवर्ग अनेक भागों में विभक्त देखा जाता है, परन्तु इन में **वेदप्रवर्त्तक सप्तर्षि, गोत्रप्रवर्त्तक सप्तर्षि, एवं सृष्टिप्रवर्त्तक सप्तर्षि** ये तीन वर्ग ही मुख्य माने जाते हैं । सृष्टिप्रवर्त्तक ऋषिवर्ग में **एकर्षिवर्ग सप्तर्षिवर्ग** भेद से दो वर्ग हैं । यद्यपि **'विरूपास-इद्दषयस्तइद् गम्भीरवेपसः'** (ऋक्संहिता) के अनुसार सृष्टिप्रवर्त्तक **ऋषि** असंख्य हैं, तथापि **'चार-आत्मा, दो पक्ष, १ पुच्छप्रतिष्ठा,** भेद से सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति से उत्पन्न होने वाली सप्तावयवभूता प्राजापत्यसृष्टि के सम्बन्ध से सबका सप्तसंख्या में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है । इन प्राणात्मक सृष्टिकर्त्ता ऋषियों के सर्वप्रथम द्रष्टा मनुष्य ऋषि भी उन्हीं प्राणऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । जिस विद्वान ने सर्वप्रथम भृगुप्राण का साक्षात्कार किया—वह, एवं तद्वंशधर भृगु नाम से ही प्रसिद्ध हुए । एवमेव **वसिष्ठ-विश्वामित्र-अङ्गिरा-कश्यप** आदि तत्तत् प्राणों के परीक्षक तत्तद्-विद्वान् भी वसिष्ठ-विश्वामित्र-अङ्गिरा-कश्यप आदि नामों से ही प्रसिद्ध हुए । जिसप्रकार प्राणात्मक ऋषि सृष्टिप्रवर्त्तक माने जाते हैं, एवमेव प्राणीरूप सात मनुष्य महर्षि **गोत्रप्रवर्त्तक** माने गए हैं । धर्म्मसूत्र के अनुसार आजदिन भारतवर्ष में सभी ब्राह्मण सप्तगोत्रों के मूलप्रवर्त्तक, सप्तर्षियों के ही वंशधर माने जाते हैं ।

तीसरा विभाग वेदप्रवर्त्तक—सप्तर्षियों का है । ये **प्राणविध प्राणीविध**, भेद से दो भागों में विभक्त हैं । शब्दात्मक वाङ्मय **शास्त्र** नामक वेद के प्रवर्त्तक प्राणीविध (मनुष्यविध) महर्षि हैं, एवं अग्निलक्षण वाङ्मय ब्रह्मसंज्ञक वेद के प्रवर्त्तक प्राणविध नित्य ऋषि हैं । इन दोनों के ही—

१-भृगु, २-अङ्गिरा, ३-अत्रि, ४-मारीच-(मरीचिपुत्र)- कश्यप, ५-मत्स्य, ६-वशिष्ठ, ७-अगस्त्य, ८-कौशिक विश्वामित्र, ९-पुलस्त्य, १०-पुलह, ११-क्रतु, १२-प्राचेतस दक्ष इत्यादि नाम सुने जाते हैं ।

सर्वप्रथम वेदकर्त्ता महर्षियों की **१-मत्स्य, २-वसिष्ठ, ३-अगस्त्य ४-भृगु, ५-अङ्गिरा, ६-अत्रि, ७-कश्यप, ८-भरद्वाज,** भेद से आठ संख्याएँ उपलब्ध होतीं हैं । इन में से **मत्स्य** ऋषि को छोड़ कर शेष सातों **गोत्रप्रवर्त्तक**, एवं **शाखाप्रवर्त्तक** माने जाते हैं । इन्ही सात गोत्रों में वेदों का संतनन विशेषरूप

५-जिस दिव्य वेदवाक् का देवतुल्य मन्त्र-निर्म्माता महर्षियोंनें तप, एवं श्रम से अन्वेषण किया है, उस वाग्देवी का में हविर्द्रव्य से यजन करता हूँ । वह मेरे आत्मा को पुण्यलोकों में प्रतिष्ठित करे ।

६-ऋषिवचन से भी यही सिद्ध है । वेद ऋषियों का वाक्य है +×+ ।

से रहा। वास्तव में इन्हीं सातों को, एवं सातों के वेदद्रष्टा वंशधरों को वेदों के प्रवर्त्तक मुख्य आचार्य्य मानना चाहिए। इन में से किसी गोत्र के तो मूलपुरुष ही विशेषयोग्यताशाली हुए हैं। वसिष्ठ-अगस्त्य-अत्रि तीनों मूलपुरुष इसी कोटि में हैं। इन के वंशधरोंनें इन के समान प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की। किन्तु विश्वामित्रगोत्री मधुच्छन्दा मूलपुरुष से भी आगे बढगए। एवमेव भृगु तथा अङ्गिरागोत्र में भी इनके वंशधरोंनें मूल–पुरुषों से कहीं अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की। ऋग्वेद में जैसी प्रसिद्धि भार्गव गृत्समद की देखी जाती है, वैसी भृगु की भी नहीं। इसी प्रकार अङ्गिरागोत्र में पुत्रों की श्रेणि में अथर्वाने, एवं बृहस्पति ने, पौत्रों की श्रेणि में गोतम-भरद्वाज--कण्व प्रगाथ ने, प्रपौत्रों की श्रेणि में वामदेव और कक्षीवान् ने जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है; वह सौभाग्य मूलपुरुषभूत स्वयं अङ्गिरा को भी प्राप्त नहीं हुआ। अङ्गिरावंशज तत्काल में जगद्गुरु एवं सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। आगे जाकर इन की महत्ता यहाँ तक बढी कि, इन को सप्तर्षिगणना में सम्मिलित कर लिया गया। यही दूसरा सप्तक १--भरद्वाज, २–कश्यप, ३–गोतम, ४–अत्रि, ५--विश्वामित्र ६--जमदग्नि, ७–वसिष्ठ इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन सब का क्रमबद्ध उल्लेख ऋग्वेदानुक्रमणिका के ९ मण्डल के ६७ वें सूक्त में द्रष्टव्य है।

१–गोत्रप्रवर्त्तकाः सप्तर्षयः--

१–भरद्वाजः । २–कश्यपः । ३–गोतमः । ४–अत्रिः । ५–विश्वामित्रः । ६–जमदग्निः । ७–वसिष्ठः ।

---*---

२–वेदप्रवर्त्तकाः सप्तर्षयः--

१–वसिष्ठः । २–अगस्त्यः । ३–भृगुः । ४–अङ्गिराः । ५–अत्रिः । ६–पुलहः । ७–भरद्वाजः ।

---*---

३–सृष्टिप्रवर्त्तकाः सप्तर्षयः--

१–मरीचिः । २–अङ्गिराः । ३–अत्रिः । ४-वसिष्ठः । ५–पुलस्त्यः । ६–पुलहः । ७–क्रतुः ।

उक्त प्रपञ्च से प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि, वेद में जितने भी मन्त्र उपलब्ध होते हैं, वे सब उक्त सातों वेदप्रवर्त्तक महर्षियों, एवं तद्वंशधरों के ही कहे हुए हैं। अनुक्रमणिका, बृहद्देवता सम्पूर्ण ऋग्वेद–सायणभाष्य, इतिहास (महाभारत), पुराण सब में विशेषरूप से इसी मत का समर्थन हुआ है। आगे का मन्त्र भी यही कह रहा है—

१—यज्ञेन वाचः पदवीयमायंस्तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ।
ताामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसन्नवन्ते ॥

—ऋकंस० ८।२।२।३।३।

६

———*———

७—यह वेद आम्नायवचनों से संगृहीत है । (३६ मत)

लोकपरम्परा से जनश्रुति के आधार पर जो वाक्य चिरकाल से चले आते हैं, जिन के मूलप्रवर्त्तक का पता नहीं हैं, ऐसे वाक्यों को ही **'आम्नायवचन'** कहा जाता है । जबतक इन किंवदन्तीरूप आम्नाय-वचनों का पूर्णपरीक्षा के द्वारा मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होजाता, जबतक ऐतिहासिक प्रमाणों की भाँति आम्नायवचनों को भी प्रमाणभूत ही माना जाता है । सम्भवतः देवयुग से ही सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में अज्ञातनामा तत्त्वविद्वानों का जो अन्वेषण हुआ, एवं उस अन्वेषण के आधार पर वे धर्म्म-विज्ञानतत्त्व जिन अज्ञात-विद्वानों द्वारा शब्द के द्वारा प्रयुक्त हुआ, चिरकाल से चले आने वाले वे आम्नायवचन जहाँ जिस रूप से सुने गए, अपान्तरतमा महर्षि के अवतार कृष्णद्वैपायन ने उन उन प्रवादवाक्यों को उन उन ऋषिसम्प्रदायों से पूर्ण अनुसन्धान के द्वारा संग्रहीत कर उनका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बना डाला । वही आम्नायवचनसंग्रह-**'मन्त्रसंहिता'** नाम से प्रसिद्ध हुआ । इसी संहितानिर्माण के कारण कृष्ण-द्वैपायन **'वेदे व्यासङ्गो यस्य'** इस निर्वचन के अनुसार **वेदव्यास** नाम से प्रसिद्ध हुए ।

प्रकारान्तर से देखिए । जो कथा लोकपरम्परा से चिरकाल से व्यवहार में चली आरही हो, किन्तु जिस कथा के सम्बन्ध में **'प्रथमप्रवर्त्तक अमुक व्यक्ति था'** यह पता न चले, जो केवल श्रुतिपरम्परा से (कानों कान) सदैव सुनी जाती हो, साथ ही में शिष्टविद्वान् जिसे प्रमाणभूत मानते हुए तदनुकूल व्यवहार में लारहे हों, ऐसी प्रामाणिक, शिष्टानुग्रहीत कथा को **'आम्नायवचन'** कहा जाता है । यह आम्नायवचन स्वतःप्रमाण होते हुए सर्वथा सत्य होते हैं । इसी सनातन विश्वास के अनुसार धर्म्म, एवं विज्ञान के सम्बन्ध में जो जो कथारूप (सूक्तरूप) वाक्य (मन्त्र) जिन जिन ऋषियों के घरानों में विशेषरूप से सुने जारहे थे, जिन जिन वाक्यों (मन्त्रों) के अनुसार उन उन ऋषिसम्प्रदायों में चिरकाल से यज्ञादि धर्म्मक्रियाओं का अनुवर्त्तन चला आरहा था, उन सब वाक्यरूप मन्त्रों, किंवा मन्त्ररूप वाक्यों का महाभारतकाल में भगवान् वेदव्यास ने बड़ी सावधानी से संग्रह कर उन्हें चार भागों में विभक्त किया । प्रत्येक विभाग के क्रमशः २१-१०१-१०००-६ इतने संग्रहग्रन्थ हुए । ये ही वेदसंहिताएँ कहलाईं । स्वयं व्यास ने इसी मत का समर्थन किया है, जैसाकि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट होजाता है—

१—आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोकसंग्रहः ।
आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतो मुखाः ।

—म० शा० १६१ अ० २५६ अ० ।

२–आम्नायमार्षं पश्यामि यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
तं विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ब्राह्मणस्यानुदर्शनात् ॥

७

———*———

उक्त सातों मतों का—'वेद महर्षिकृत हैं, पौरुषेय हैं, अनित्य हैं' इस ५ वें वैशेषिकमत के साथ समन्वय है । अतएव इन सातों को हमनें वैशेषिकमत में अन्तर्भूत मान लिया है ।

५—वेद महर्षिकृत हैं, पौरुषेय हैं, अनित्य हैं । (वैशेषिक-मत) ।

१—३३-यह वेद देवर्षियों का वाक्य है ।

२—३४-यह वेद अजपृश्णि का वाक्य है ।

३—३५-यह वेद ब्रह्मर्षि का वाक्य है ।

४—३६-यह वेद अपान्तरतमा का वाक्य है ।

५—३७-यह वेद ऊर्ध्वरेता ऋषियों का वाक्य है ।

६—३७-यह वेद सप्तर्षियों का वाक्य है ।

७—३६-यह वेद आम्नायवचनों से संगृहीत वाक्यग्रन्थ हैं ।

इति--वैशेषिकमतप्रदर्शनम् ।

५

———*———

श्रीः

इति–सप्त–(७)–अवान्तरमतयुक्तं–
वैशेषिकदर्शनाभिमत--प्रदर्शनम्

५

———*———

श्रीः

अथ—युगधर्म्मानुगत–कलिवात्याहित–
विभिन्न-काल्पनिक-मतप्रदर्शनम्

तदनु–नास्तिकदर्शनाभिमत–मतप्रदर्शनञ्च

६

श्रीः

मतभासात्मक-काल्पनिक-मत

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (का०, इस श्रौतसूत्रसिद्धान्त के अनुसार यद्यपि वेदग्रन्थ विद्वत्समाज में मन्त्र-ब्राह्मण-भेद से दो भागों में विभक्त माने जाते हैं। परन्तु इन दोनों में संहिता को ही (इन में भी उपलब्ध-वैदिकप्रेस अजमेर में मुद्रित चार संहिताओं को ही) वेद कहना चाहिए। क्योंकि ये चारों संहिताएँ ही ईश्वरप्रोक्त हैं। शेष शाखारूप संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् आदि भाग शुद्ध पौरुषेय हैं, ईश्वरप्रोक्त नहीं। भिन्न भिन्न ऋषियोंने भिन्न भिन्न काल में इन का निर्म्माण किया है। वे ब्राह्मणग्रन्थ आजदिन उन के कर्त्ता ऋषियों के नाम से ही पैङ्ग्य, कौषीतकि, ऐतरेय, तैत्तिरीय, शाङ्खायन इत्यादि रूप से प्रसिद्ध हैं। कौन ब्राह्मण किस ऋषि की कृति है ?, यह तत्तद्ब्राह्मणग्रन्थों को देखने से ही स्पष्ट होजाता है।"

उक्त मत 'मत' नहीं, अपितु कल्पनामात्र है। इसीलिए हमने इसे 'मताभास' कहा है। यह मत सर्वथा अवैज्ञानिक है, वेदतत्त्वानभिज्ञ सामान्य-मनुष्य की कपोलकल्पनामात्र है। अतएव इस मत का उपोद्बलक कोई शास्त्रीय वचन नहीं है।

---*---

६—नास्तिकदर्शनाभिमत—मतप्रदर्शनम्

इस मत के सम्बन्धमें हमें कुछ भी वक्तव्य नहीं है। कारण स्पष्ट है। नास्तिकदर्शन की मूलभित्ति अभिनिवेश (हठ-दुराग्रह-मात्र) है। एवं अभिनिविष्ट का सन्तोष करना सर्वथा असम्भव है-'नतु प्रतिनिविष्ट-मूर्खजनचित्तमाराधयेत्'। नास्तिकों का स्वरूप बतलाते हुए अभियुक्त कहते हैं—

नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा।
नास्तिकास्ते·························॥१॥
अवैदिकप्रमाणानां सिद्धान्तानां प्रदर्शकाः।
चार्वाकाद्याः षड्विधास्ते ख्याता लोकेषु नास्तिकाः ॥२॥

जो अवैज्ञानिक मनुष्य विज्ञानघन वैदिक-तत्त्वों को समझने में असमर्थ होते हुए वेदप्रतिपादित परलोक-आत्मा-परमात्मा-आत्मगति-श्राद्ध-अवतार-मूर्तिपूजन-वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में अपने अभिनिवेश से-'यह सब कुछ मिथ्या है' यह दृढ निश्चय रखते हैं, अतिवादशून्य वे ही व्यक्ति नास्तिक कहलाते हैं। ये लोग वेदविरुद्ध, स्वकपोलकल्पित, सर्वथा नवीन, नितान्त भ्रान्त सिद्धान्तों से सामान्य जनता को मोह में डाला करते हैं। इनके-चार्वाक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, आर्हत ये ६ भेद हैं। सभी वेदमार्ग के विरुद्ध जाने वाले हैं। इनमें नास्तिकों के शिरोमणि बृहस्पति माने गए हैं। बृहस्पति

मत का अनुगमन करने वाले चार्वाकों का कहना है कि-'पृथिवी, जल, तेज-वायु-भेद से चार तत्त्व हैं। इन चारों भूतों के समन्वयविशेष से शरीर में अपने आप चेतना का उदय होजाता है। शरीरनाश के साथ साथ ही चेतना भी नष्ट होजाती है। चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है। शरीर से अतिरिक्त कोई नित्य-आत्मा नहीं है। तीनों वेद, एवं तत् प्रतिपादित कर्म्मकलाप धूर्त्तों का प्रलापमात्र है। शरीरव्याधि ही नरक है, शरीरस्वास्थ्य ही स्वर्ग है। प्रजा को सुखी रखने वाला राजा ही परमेश्वर है। देह का विनाश ही मोक्ष है। सम्पूर्ण जगत् अपने आप स्वभाव से ही-उत्पन्न, एवं नष्ट होता रहता है, जैसा कि आचार्य्य कहते हैं—

अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥

इस नास्तिकमत के अनुसार वेद स्वार्थलोलुप, अवैज्ञानिक, ग्रामीणमनुष्यों की रचनामात्र है। इस मत के भी यद्यपि अनेक अवान्तर-विभेद श्रुतोपश्रुत हैं। किन्तु अप्रमाणात्मक'उन काल्पनिक-नास्तिक-मत-विभागों का केवल एक मतप्रदर्शन के द्वारा ही अत्र उपसंहार कर दिया जाता है।

१—यह वेद स्वार्थी-मनुष्यों के स्वार्थसिद्धि का द्वारभूत वाक्यसंग्रहमात्र है। (४० मत)

चार्वाकशिरोमणि बृहस्पति का कहना है कि, पुरायुग में अपनी तीक्ष्णबुद्धि के प्रभाव से तत्कालीन मानवसमाज में अपने आप को सर्वश्रेष्ठ, ईश्वर के मुख से उत्पन्न कहने वाले ब्राह्मणवर्गने संसार को धोका देने के लिए तद्युगीया ग्राम्यभाषा में अपने अपने नामों से वाक्य बनाकर, उन्हें ईश्वर का सन्देश कहते हुए सर्वथा कल्पित स्वर्गादि की विभीषिका उपस्थित की है। इन धूर्त्तों का वह स्वार्थसाधक ग्राम्यभाषामय असत् साहित्य ही वेद है। इस मत के उपोद्बलक निम्नलिखित वचन है—

१—न स्वर्गो नापवर्गो या नैवात्मा पारलौकिकः ॥
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥१॥
अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ॥
प्रज्ञापौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥२॥

१—न स्वर्ग नाम का का कोई अभ्युदयसाधक परलोक है, न अपवर्ग नाम का निःश्रेयसंसाधक कोई मुक्तिधाम है। न (अनित्य शरीर से अतिरिक्त) परलोकगामी कोई (नित्य) आत्मा है। एवं न वर्णाश्रमधर्म्मानुकूल धर्म्मकर्म्म किसी उत्कृष्ट फल के देने वाले हैं ॥१॥

प्रातः सायं किया जाने वाला, जरामर्यसत्र नाम से प्रसिद्ध (वेदप्रतिपादित) अग्निहोत्र, ऋग्-यजुः-साम भेद भिन्न तीनों वेद, आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक भेदभिन्न तीनों दण्ड, अथवा कायिक-वाचिक-मानसिक पापों के फलरूप तीनों दण्ड, अथवा त्रिवर्ण के सन्यासियों के लिए विहित तीन दण्ड, अथवा वाक्-धिक्-पौरुषदण्ड, ललाट पर भस्मावलेप, ये सब प्रपञ्च बुद्धि, एवं पुरुषार्थशून्य अकर्मण्य मनुष्यों की जीविका के साधन हैं।२।

२–पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥३॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पथेयकल्पना॥४॥
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः॥
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः॥
मृतानां प्रेतकार्य्याणि न त्वन्यद् विद्यते क्वचित् ॥
३–त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्ड–धूर्त्त–निशाचराः ।
जीवहिंसां प्रशंसन्ति यज्ञे मांसाशनेच्छया ॥६॥
दर्शयन्ति च देहान्ते स्वर्गसौख्यप्रलोभनम् ।
देवदुश्चरितं चाहुर्मनोरञ्जनहेतवः ॥७॥

२–'ज्योतिष्टोम नाम से प्रसिद्ध सोमयाग में मारा गया पशु स्वर्ग में जायगा' यदि यह वेदवचन सत्य है, तो फिर यजमान अपने पिता का ही (यज्ञ में) वध क्यों नहीं कर डालता ? । भला अपने पिता को स्वर्ग कौन नहीं पहुँचाना चाहेगा ।३।

मृतप्राणियों के लिए यदि श्राद्ध का अन्न तृप्ति का कारण बनता है, तो फिर विदेश जाते हुए यात्री को पाथेय (मार्गभोजन) देना व्यर्थ है । जिस मार्ग से परलोक जैसे विदूर लोकस्थ प्राणी को अन्न पहुँचा दिया जाता है, क्या उसी मार्ग से इसी लोक में पाथेय नहीं पहुँचाया जासकता ? ।४।

यदि आत्मा नाम का [कल्पित] जीव इस शरीर को छोड़कर परलोक चला जाता है, तो वह क्यों नहीं अपने बन्धुओं के स्नेह से आकर्षित होकर कभी कभी उन से मिल जाया करता ।५।

मृतमनुष्यों के [सिवाय जलाने के] और कोई प्रेतकार्य्य बाकी नहीं बचता है ।

३–भाँड–धूर्त–निशाचर ये तीन ही वेद के रचयिता हैं । ये लोग माँस खाने की इच्छा से यज्ञ में पशुवध की प्रशंसा करते हैं ।५।

साथ ही में शरीर के मरने पर स्वर्गसुख का प्रलोभन देते हैं । अर्थात् कहते हैं कि, यज्ञकर्त्ता भी इस शरीर से पृथक् होने पर स्वर्ग जायगा, साथ ही में यज्ञ में मारे हुए पशु का भी आत्मा स्वर्ग जायगा । जिन मनुष्यों को इन्होंनें देवता मान रक्खा है, उनके दुश्चरित्रों को [इन्द्र का जारत्व–विष्णु का मोहिनी रूप धारण-आदि को] ये देवताओं का मनोविनोद बतलाते हैं ।७।

४-असारं सर्वमत्रोक्तं न किञ्चित्तत्वमस्ति हि ।
नास्तीश्वरस्तस्माद् भयं मिथ्या प्रदर्श्यते ॥८॥
यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥९॥

४—वस्तुतः वेदों में जो कुछ कहा गया है, वह सर्वथा निःसार है। इनमें, एवं इनके अनुयायी ब्राह्मणों के कथन में कुछ भी तत्त्व नहीं है। ईश्वर नाम का कोई पदार्थ नहीं है। ये धूर्त ईश्वर के नाम से जनता को झूँठा भय दिखलाते रहते हैं।८।

मनुष्य को चाहिए कि, वह जबतक जीवे, सुख से जीवे। कर्ज करके घृतपान करे। भला खाक में मिला पुतला भी कहीं फिर कर्ज चुकाने वापस आया है।९।

इति–नास्तिकदर्शनाभिमत–मतप्रदर्शनम्

६

श्रीः

इति–वेदापौरुषेयत्त्व–पौरुषयेत्त्वसम्वन्धे–

"दार्शनिकविचार-प्रसंगः"

उपरतः

———*———

श्रीः

वेद के तात्त्विक-स्वरूप की रूपरेखा से अनुप्राणिता

"*वैज्ञानिक-वेद-निरुक्तिः*"

* श्रीः *

वेद के तात्त्विक-स्वरूप की रूपरेखा से अनुप्राणिता "वैज्ञानिक-वेद-निरुक्तिः"

विषयोपक्रम—

एक ही वेदपदार्थ के सम्बन्ध में जैमिनि-व्यास, उदयनाचार्य्य, गोतम, कपिल, कणाद, आदि दार्शनिकों के भिन्न भिन्न विचार हैं। आगे जाकर आस्तिकवर्ग की यह विचारधारा ३९ भागों में विभक्त होजाती है। ऐसी दशा में—"एकस्मिन् धर्म्मेणि विरुद्धनानाकोटयवगाहि ज्ञानं संशयः" इस लक्षण के अनुसार एक ही वेदापौरुषेयत्व-पौरुषेयत्व के सम्बन्ध में परस्पर सर्वथा विरुद्ध अनेक मतवादों के उपस्थित होने से एक तटस्थ जिज्ञासु के हृदय में सन्देह का प्रादुर्भूत होना सर्वथा अनिवार्य्य है। इन सन्देहों की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है-**वैज्ञानिक वेद का स्वरूप परिचय प्राप्त करना**। वेद का वैज्ञानिक स्वरूप समझ लेने के अनन्तर पूर्वप्रतिपादित सभी मतवादों का यथावत् समन्वय होजाता है। वेद का वैज्ञानिक स्वरूप समझ लेने के पश्चात् आप वेदों को **'नित्यकूटस्थ अपौरुषेय'** भी कह सकते हैं। **'ईश्वरकृत'** भी मान सकते हैं। **'ईश्वरावतारकृत'** भी मान सकते हैं। **'प्राकृतिक'** भी मान सकते हैं। एवं **'महर्षिकृत'** भी कह सकते है। अवारपारीण एक ही विज्ञानधरातल पर सभी दार्शनिक-मत प्रतिष्ठित हैं। अपनी अपनी दृष्टि से सभी मत सत्य हैं। सत्याधार उसी वैज्ञानिक-वेद की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

वेदप्रतिष्ठानुगता--आत्मस्वरूपनिरुक्तिः

१

राग-द्वेष, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, सत्-असत्, निरुक्त-अनिरुक्त, मूर्त्त-अमूर्त्त, अहः-रात्रि, शुक्ल-कृष्ण, विद्या-अविद्या, सर्ग-प्रलय, उत्पत्ति-विनाश, आगति-गति, अग्नि-सोम, शीत-ग्रीष्म, पति-पत्नी, पुरुष-प्रकृति, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, आदि आदि असंख्य द्वन्द्वभावों से नित्य समाकुलित, विविधभावाक्रान्त, स्थावरजङ्गमात्मक इस मायामय विश्व का मूल क्या है?, किससे यह विश्व उत्पन्न हुआ है?, किस आधार पर यह विश्व प्रतिष्ठित है?, इत्यादि प्रश्नों की अपनी ओर से उत्थानिका करती हुई, साथ ही में इन प्रश्नों का सम्यक् समाधान करती हुई श्रुति कहती है—

(प्रश्नश्रुतिः) **१—किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत्,**
यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तत्,
यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥१॥ ?

(उत्तरश्रुतिः) **२—ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्,**
यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वः,
ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥२॥

—तै० ब्रा० २।८।९।६-७ इति ।

१—"वह कौनसा वन (जङ्गल) था, उस वन में वह कौनसा वृक्ष था जिसे काट-छाँट कर पृथिवी-द्य-अन्तरिक्षरूप त्रैलोक्य बना दिया गया ?। हे विद्वानों ! अपने मन से उक्त दोनों प्रश्नों का विचार करते हुए सृष्टिविद्या के आचार्य्यों से उक्त प्रश्नों का उत्तर पूँछो । साथ ही में उन्हीं आचार्य्यों से यह भी पूँछो कि-जिस तत्वने इन सातों भुवनों को अपने ऊपर धारण कर रक्खा है, साथ ही में जो तत्त्व सातों का नियन्ता बन रहा है, वह कारणब्रह्म कौन है ?"

२—(आचार्य्य उत्तर देते हैं)-"ब्रह्म ही वह वन था, उस वन में ब्रह्म ही वृक्ष था, जिस ब्रह्म वृक्ष को काट-छाँट कर त्रैलोक्य बना दिया गया । हे प्रश्नकर्त्ता विद्वानों ! मैं पूर्ण अन्वेषण करने के पश्चात् अन्तःकरण से तुम्हें बतलाता हूँ कि, ब्रह्म ने हीं सम्पूर्ण भुवनों को धारण कर रक्खा है, एवं ब्रह्म ही भुवनों का अध्यक्ष है ?"

श्रुति के उक्त प्रश्न, एवं समाधान को सामान्य मनुष्य नहीं समझ सकते । "**ब्रह्म ही वन था, ब्रह्म ही वृक्ष था । उस वृक्ष से त्रैलोक्य बन गया**" केवल इन अक्षरों से अस्मदादि साधारण जन अपनी जिज्ञासा शान्त नहीं कर सकते । सृष्टिविषयक सभी प्रश्नों का विशद वैज्ञानिक समाधन **ईशोपनिषद् विज्ञान-भाष्य** में किया जाचुका है । यदि प्रकृत में भी उसका पिष्टपेषण किया जायगा, तो आवश्यकता से अधिक विस्तार और भी अधिक विस्तृत होजायगा । फलतः प्रतिपाद्य विषय में संकोच करना पड़ेगा । इसलिए यहाँ इस सम्बन्ध में हम केवल यही कह देना पर्य्याप्त समझते हैं कि, जिस ब्रह्म को श्रुतिने वन बतलाया है, वह **परात्पर** ब्रह्म है । **सर्वबलविशिष्ट रस** ही का नाम परात्पर है । यही **परमेश्वर** है । परात्पर परमेश्वर निःसीम है, व्यापक है । दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न है । जिसप्रकार एक अरण्य की इयत्ता अननुमेया होती है, उसी प्रकार असीम परात्पर की भी इयत्ता नहीं की जासकती । इसी आंशिक सादृश्य को लेकर श्रुतिने परात्पर-ब्रह्म की वन के साथ तुलना की है-(देखिए ई० वि० भा० प्र० ख० प्राकथन १८ पृष्ठ से पृष्ठ २७ पर्यन्त) ।

उस व्यापक परात्पर में ससीम असंख्य **मायाबल** हैं । अमित को मित (सीमित) बना देने वाला सर्वबलकोशाधिष्ठाता ज्येष्ठ, एवं श्रेष्ठ बलविशेष ही "माया" नाम से व्यवहृत हुआ है । इन मायाबलों का परात्पर-धरातल के जिस जिस प्रदेश में उदय होता है, वह परात्पर प्रदेश मायारूप पुर से सीमित होता हुआ 'पुरुष' नाम धारण कर लेता है । मायाबल क्योंकि असंख्य हैं. अतएव मायाबलावच्छिन्न असंख्य ही मायी पुरुष उस व्यापक परात्पर-धरातल पर उदित होजाते हैं । जिसप्रकार एक महा अरण्य में थोड़े थोड़े, अथवा अधिक अधिक अन्तर पर अनन्त वृक्ष प्ररोहित रहते हैं, ठीक इसीप्रकार महाअरण्यस्थानीय इस व्यापक परात्परप्रदेश में वृक्षस्थानीय असंख्य मायीपुरुष प्रतिष्ठित रहते हैं । प्रत्येक मायीपुरुष एक एक स्वतन्त्र ईश्वर है । प्रत्येक ईश्वर का एक एक स्वतन्त्र विश्व है । परात्पर में ऐसे असंख्य ईश्वर, किंवा विश्वेश्वर हैं, अतएव वह इन ईश्वरों की अपेक्षा परमेश्वर कहलाता है । परमेश्वर जहाँ एक है, वहाँ ईश्वर असंख्य हैं । जङ्गल एक होता है, परन्तु उसमें वृक्ष अनेक होते हैं । (देखिए ई० वि० भा० प्र० पुरुष-निरुक्तिप्रकरण २६५ पृष्ठ से २८३ पृ० पर्यन्त) ।

वृक्षरूप पुरुष उपनिषत्-एवं गीताशास्त्र में अश्वत्थवृक्ष नाम से सम्बोधित हुआ है । इस अश्वत्थवृक्ष की एकसहस्र शाखाएँ मानीं गईं हैं । प्रत्येक शाखा एक एक क्षुद्र विश्व है । प्रत्येक विश्व में भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तपः-सत्यम् ये सात सात लोक हैं । सप्तवितस्तिकायात्मक शाखेश्वर ही उपेश्वर है । ईश्वर के गर्भ में ऐसे सहस्र उपेश्वर हैं । सहस्रों-उपेश्वरों को अपने गर्भ में रखने वाला अश्वत्थेश्वर वृक्षवत् स्तब्ध खड़ा है । यही ईश्वरवृक्ष विश्वात्मक भुवनों का अन्यतम अध्यक्ष है, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

इस अश्वत्थेश्वर पूर्णपुरुष के अमृत-ब्रह्म-शुक्र ये तीन विवर्त्त हैं । तीनों में क्रमशः ३-५-३ ये अवान्तर विभाग हैं । अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर की समष्टि "अमृतम्" है । प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद की समष्टि ब्रह्म है । वाक्-आपः-अग्नि की समष्टि "शुक्रम्" है । इन तीनों से अतिरिक्त उस व्यापक परात्पर का भी इसमें समावेश है । वही तुरीयपद है । इसप्रकार पुरुषब्रह्म चतुष्पाद् होजाता है । इन चारों में परात्पर-अमृत-ब्रह्म ये तीन पाद तो अक्षुण्ण रहते हैं, शेष चौथा शुक्रपाद विश्वरूप में परिणत होता है—(देखिए ई० शुक्रनिरुक्ति) । इसी अभिप्राय से "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादो स्येहाभवत् पुनः" यह कहा जाता है । सम्पूर्ण वृक्षब्रह्म विश्व नहीं बनता, अपितु उसका एक भाग ही विश्व बना है, यही बात बतलाने के लिए पूर्व श्रुतिने "वृक्ष को काट कर भुवन बनाए हैं" यह कहा है । परात्परावच्छिन्न अव्यय विश्व का आलम्बन है, अक्षर कर्त्ता है, क्षर उपादानमूल है, ब्रह्म उपादानारम्भण है, शुक्र उपादान है, स्वयं विश्व कार्य्य है । ये सब एक ही परात्परब्रह्म के विवर्त्त हैं । वही ब्रह्म मायावच्छेदेन वृक्षब्रह्म बना है । वही योगमायावच्छेदेन विश्व बना है-"तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते" । वही लोकात्मक है, वही लोक है-'तस्य लोकाः, स उ लोक एव' (बृ० आ० ४।४।१३) । इसी आत्माद्वैतसिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर पूर्व की प्रश्नोत्तर-श्रुतियोंनें सर्वत्र "ब्रह्म" शब्द का ही व्यवहार किया है ।

१–परात्परब्रह्म–'ब्रह्मवनम्'
२–पुरुषब्रह्म—

१—अव्ययानुग्राहकः परात्परः
२—पञ्चकलोऽव्ययः
३—पञ्चकलोऽक्षरः
४—पञ्चकलः क्षरः
} १ "अमृतम्"

———*———

१—प्राणः
२—आपः
३—वाक्
४—अन्नम्
५—अन्नादः
} २ "ब्रह्म"

———०———

१—वाक्
२—आपः
३—अग्निः
} ३ "शुक्रम्"

} "ब्रह्म स वृक्ष आसीत्"

———*———

१—परात्परः
२—अमृतम्
३—ब्रह्म
४—शुक्रम्
} "चतुष्पाद्ब्रह्म–त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत् पुनः"

'सत्यं ज्ञाननमनन्तं ब्रह्म'--'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को सच्चिदानन्दघन बतला रहीं हैं। साथ ही में 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'-'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वम् यदिदं किञ्च' इत्यादि श्रुतियाँ उसी ब्रह्म को विश्वरूप में परिणत मान रहीं हैं। इस से हमें मानना पड़ता है कि, विश्वमूलभूत ब्रह्म भी सच्चिदानन्द है, एवं इस मूलब्रह्म के अंशरूप से उत्पन्न विश्व भी सच्चिदानन्द ही है। पूर्व में बतलाया गया है कि, चतुष्पाद्ब्रह्म का शुक्रभाग ही विश्वरूप में परिणत हुआ है, एवं उस शुक्र के वाक्-आपः-अग्नि ये तीन विवर्त्त हैं। इन तीनों में वाक् ही मूलशुक्र है। 'वाग्विवृताश्च वेदाः' के अनुसार वेदतत्त्व इसी वाक्शुक्र का विवर्त्त है। इसी वाङ्मय सच्चिदानन्दलक्षण वेद को हम इस वेदप्रकरण में- 'मूलवेद' कहेंगे।

वाङ्मय इस मूलवेद के विकास के लिए ब्रह्मा-विष्णु-महेश, नामक तीन देवता व्यापार करते हैं। पुराण के मतानुसार तीनों वेदों के प्रवर्त्तक उक्त तीनों देवता ही हैं, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। निगमशास्त्र के मतानुसार वेद का प्रादुर्भाव ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र इन तीन देवताओं के वीरण (प्रतिस्पर्द्धा-रूप उत्तेजना) से हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

"उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्॥
किं तत् सहस्रमिति! इमे लोकाः, इमे वेदाः,
अथो वाक्-इति ब्रूयात्" (ऐ० ब्रा० ६।१५)

"इन्द्र और विष्णु नाम के दोनों देवताओंनें सम्पूर्ण विश्व को जीत लिया है, ये दोनों किसी से भी पराजित नहीं होते हैं। साथ ही में इन दोनों में भी एक दूसरे से कभी कोई (परस्पर में) नहीं हारा है। इन्द्राविष्णू दोनोंनें जब "अप्" तत्त्व पर स्पर्द्धा की, तो इन्होंनें अपनें स्पर्द्धारूप वीरण से तीन साहस्रियाँ उत्पन्न कर दीं। वे तीन साहस्रियाँ कौनसीं हैं ?, यदि कोई यह प्रश्न करे, तो उसे कहना चाहिए कि, ये तीन लोक, ये तीन वेद, और वाक्, ये ही तीन साहस्रियाँ हैं"।

विचार यह करना है कि, इन्द्र-विष्णु कौन हैं ?, इन की स्पर्द्धा का क्या स्वरूप है ?, जिस अप्तत्त्व पर ये स्पर्द्धा करते हैं, वह अप्तत्त्व क्या पदार्थ है ?, एवं लोक, वेद, वाक्, नाम की तीनों साहस्रियों का क्या स्वरूप है ?। इन प्रश्नों की मीमांसा के लिए हमें आत्ममीमांसा करनी पड़ेगी। 'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' (बृहदारण्यक) इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा मनःप्रणवाङ्मय है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि, एक ही आत्मा तीन स्वरूपों में परिणत होरहा है। मनोमय आत्मा पहिला पर्व है। मन ज्ञानशक्तिघन है, अतएव हम इस आत्मा को 'ज्ञानात्मा' कह सकते हैं। ज्ञान ही को विद्या कहते हैं, अतएव यही 'विद्यामय-आत्मा' कहलाने लगता है। प्राणमय आत्मा दूसरा पर्व है। प्राण क्रियाशक्तिघन है, क्रिया कर्म्म है, अतः हम इसे कर्म्मात्मा कह सकते हैं। कर्म्म ही एक प्रकार का वीर्य्य (शक्ति-बल) है, अतएव इसे हम 'वीर्य्यमय-आत्मा' भी कह सकते हैं। उसी आत्मा का तीसरा विवर्त्त वाङ्मय है। वाक् अर्थशक्तिघन है। अर्थ को ही भूत कहते हैं, अतएव इसे हम 'भूतात्मा' कह सकते है। मनःप्राणवाक्, तीनों त्रिवृद्भावापन्न रहते हैं, जिस त्रिवृद्भाव का कि ईशभाष्य के 'मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव की व्यापकता' प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है-(देखिए, ई० उ० प्र० खण्ड)।

इस त्रिवृद्भाव का तात्पर्य्य **पञ्चीकरण**-प्रक्रिया से गतार्थ **है** । अर्द्धभाग में मन, अर्द्धभाग में शेष प्राण-वाक्, इस त्रिवृत्करण में **जो मनःप्रधान**–(प्राणवाग्गर्भित) एक अपूर्व स्वरूप उत्पन्न होता है, उसे ही हम यहाँ मनोमय आत्मा कहेंगे । इसी प्रकार **प्राणप्रधान** (मनो-वाग्गर्भित) अपूर्वभाव को प्राणमय आत्मा, एवं **वाक्प्रधान** (मनःप्राणगर्भित) अपूर्वभाव को **वाङ्मय** आत्मा कहा जायगा । मनोमय **ज्ञानात्मा** वाक्-प्राण से युक्त होता हुआ ज्ञान–अर्थ से भी युक्त **है** । एवमेव वाङ्मय **कर्म्मात्मा** मनः-प्राण **से** युक्त होता हुआ मनः–प्राण से युक्त होता हुआ ज्ञान–क्रिया से भी युक्त है । इस कथन से हमें इस **निश्चय** पर पहुँचना पड़ा कि, जिसे हम ज्ञानात्मा कहते हैं, वह केवल ज्ञानमय ही नहीं है, अपितु वह कर्म्म–अर्थ का भी सञ्चालक है । एवमेव कर्म्मात्मा, एवं भूतात्मा भी विशुद्ध कर्म्म, एवं भूतमय ही नहीं हैं, अपितु तीनों में तीनों शक्तियाँ विद्यमान हैं । हाँ, गौण-मुख्यभाव का अवश्य ही तारतम्य **है** । इस विशेषभाव के कारण ही तो **ताच्छब्द्य** न्याय के अनुसार इन्हें क्रमशः–**ज्ञानात्मा–कर्म्मात्मा–भूतात्मा,** इन नामों से व्यवहृत किया जाता है ।

सर्वप्रथम मनःप्रधान ज्ञानात्मा की तीनों कलाओं का ही विचार कीजिए । इस पक्ष में रसतत्त्व को ही ज्ञान कहा जायगा । इस रस के साथ बल का संयोग होता है, बल की चिति होती है । परन्तु असंग रस की प्रधानता से इस आत्मा पर बल अपना पूर्ण प्रभाव नहीं जमा सकता । इस आत्मा की वह अवस्था-जिस पर बलने कोई अधिकार नहीं जमाया है, बल सर्वात्मना जिसके गर्भ में विलीन है, ऐसे विशुद्ध ज्ञान, किंवा विशुद्ध रसपर्व को ही–'**आनन्द**' कहा जाता है–'**रसो ह्येव सः**' । यही पहिली **मनःकला** का उपभोग है । आगे जाकर बल का कुछ विकास होता है । बल कुर्वद्रूप है । उदित होते ही यह क्षोभ उत्पन्न कर देता है । क्षुब्धबलावच्छिन्न रस की यह दूसरी (आँशिक) कुर्वद्रूपावस्था ही '**विज्ञान**' नाम से प्रसिद्ध है । विज्ञान में ज्ञान भी है, तो क्रिया का भी आँशिक रूप से उदय होरहा है । तभी तो विज्ञान के सम्बन्ध में–'**विज्ञायते**' इस क्रियापद का प्रयोग होता है । यही दूसरी **प्राणकला** का उपभोग है । बल कुछ मात्रा में और चित होता है, कुछ स्थूलता आजाती है । यही स्थूलता भूतभाव है । इससे वह आत्मा भूताविष्ट होजाता है । वही इसका तीसरा '**मनो**' विभाग है । मन में भौतिक विषय का संसर्ग होने की योग्यता है । यही तीसरी **वाक्कला** का उपभोग है । इसप्रकार ज्ञानघन मन से आनन्द का, क्रियाघन प्राण से विज्ञान का, एवं अर्थघना वाक् से मन का उदय होजाता है । इन तीनों में प्रधानता मनोमय रस की ही है । अ एव इसे हम मनोविवर्त्त ही कहेंगे, यही पहिला ज्ञानात्मक, किंवा आत्मा का त्रिकल विद्या–भाग है । यह सर्वथा असंग है । द्वन्द्वभावों से इस आत्मविवर्त्त का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

१—मनोमयो ज्ञानात्मा–विद्याविवर्त्तम्—

१–ज्ञानात्मा—	विशुद्धरसः———आनन्दः———मनोमयः	—मनोविवर्त्तम्
	बलोदयावच्छिन्नरसः —विज्ञानम्———प्राणमयम्	
	बलव्यापारावच्छिन्नरसः-मनः (अन्तर्मनः)—वाङ्मयम्	

तदित्थं मनोमये ज्ञानात्मनि, आत्मनो विद्याविभागे वा
मनसस्त्रिवृद्भागेन मनः–प्राण–वाचां सम्बन्धात्–कलोदयः ।

दूसरा प्राणप्रधान **कर्म्मात्मा** है। क्रियातत्त्व, क्रियाशक्ति ही प्राण है। पूर्व में हमने बल से क्रिया-भाव का विकास बतलाया है। बात यथार्थ में यह है कि, बल की अवस्थाविशेषों ही का नाम क्रमशः **बल-प्राण-क्रिया** है। एक ही बल तीन अवस्थाओं में परिणत होरहा है। इन तीनों का प्रत्यक्ष किया जासकता है। आप अपने हाथों से अभी कोई काम नहीं कर रहे, परन्तु काम करने की शक्ति विद्यमान है। यही शक्ति-रूप बल '**बल**' है। यह इसकी सुप्तावस्था है। इस अवस्था में इस बल को हम बल शब्द से ही व्यवहृत करेंगे। आपने कार्य्य आरम्भ कर दिया, सुप्तबल जाग्रत होगया, कुर्वद्रूप बन गया। इसी अवस्था में यह बल 'प्राण' नाम से व्यवहृत होता है। काम करते करते आपके हाथ थक जायँगे। आप अनुभव करेंगे कि, मेरे हाथों की शक्ति निकल गई। इसी आधार पर आपको मानना पड़ेगा कि, प्राणरूप में परिणत बल खर्च होरहा है। यही बल की तीसरी निर्गच्छत् अवस्था है। इसी को वैज्ञानिक लोग "क्रिया" शब्द से व्यवहृत करते हैं। इसप्रकार वही मूलबल उक्त तीनों अवस्थाओं के कारण अन्त में "**कर्म्म**" रूप में परिणत होजाता है। इसी आधार पर हमने प्राणप्रधान आत्मा को **कर्म्मात्मा** नाम से सम्बोधित किया है। इस कर्म्मात्मा में भी बलचिति का तारतम्य है। जितना रस, उतना बल, रस-बल की यह साम्यवस्था ही पहिली **मनःकला** है। विद्यात्मक मन अन्तर्मुख होता हुआ अन्तर्मन था, यह मन बहिर्मुख बनता हुआ **बहिर्म्मन** है। मन में रसात्मक **ज्ञान**, तथा बलात्मक **कर्म्म**, दोनों का समावेश है। अतएव मन से जहाँ **प्रज्ञामात्रा**-प्रधान **ज्ञानेन्द्रियों** का सञ्चालन होता है, वहाँ इसी **सर्वेन्द्रिय** मन से **प्राणमात्रा**-प्रधान **कर्म्मेन्द्रियों** का भी सञ्चालन होता है-"उभयात्मक मनः"। यही त्रिवृदात्मा की **मनः-कला** का उपभोग है। आगे जाकर बल क्रमशः बढ़ने लगता है। इस दूसरी अवस्था को ही "**प्राण**" कहा जाता है। बल की चिति और होती है। इस अन्तिम चिति से रसरूप ज्ञान अभिभूत जाता है, केवल बल की ही प्रधानता रहजाती है। इसी तृतीयावस्था का नाम 'वाक्' है। प्राण में **प्राणकला** का उपभोग है, वाक् में वाक्कला का उपभोग है। तीनों की समष्टि कर्म्मात्मा है। इसमें प्रधानता प्राण की है, अतएव इसे हम प्राणविवर्त्त ही कहेंगे। यह ससङ्गासङ्ग है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

२--प्राणमयः कर्म्मात्मा-"वीर्य्यविवर्त्तम्"--

२-कर्म्मात्मा- { रसबलयोः साम्यावस्था——मनः (मनोमयम्) / रसगर्भितं बलम्————प्राणः (प्राणमयः) / सुप्तरसगर्भितं बलम्———वाक् (वाङ्मयी) } —प्राणविवर्त्तम्

तदित्थं प्राणमये कर्म्मात्मनि, आत्मनो वीर्य्यभागे वा प्राणस्य त्रिवृद्भावात्-मनः-प्राण-वाचां सम्बन्धात् कलोदयः।

——*——

तीसरा है वाक्प्रधान भूतात्मा। अर्थतत्व, किंवा अर्थशक्ति ही वाक्तत्व है। इस वाकतत्त्व की भी रस-बल के तारतम्य से तीन अवस्थाएँ होजातीं हैं। वाक् को रसप्रधान समझिए। बलचिति से यही वाक् अंशात्मना अप्-रूप में परिणत होजाती है। बल की और चिति होती है। इससे अप् तत्त्व आंशिकरूप से

अग्निरूप में परिणत होजाता है। इसप्रकार एक ही वाक्तत्त्व **वाक्-आप:-अग्नि,** इन तीन स्वरूपों में परिणत होजाता है। वाक् में **मनोकला** का, आपः में **प्राणकला** का, एवं अग्नि में **वाक्कला** का उपभोग है। इस तीसरे विवर्त्त में प्रधानता वाक्-रूप अन्न की ही है। अतएव हम इसे वाग्विवर्त्त ही कहेंगे। वाक् आकाश है, आकाशात्मिका मर्त्या वाक् ही बल-ग्रन्थि-तारतम्य से क्रमशः **वायु-तेज-जल-पृथिवी** रूप में परिणत होती हुई पञ्चभूतमयी बन जाती है। पाञ्चभौतिकवर्ग ही **अन्न है।** अन्नात्मक भूत **के सम्बन्ध** से ही यह वाङ्मय आत्मा भूतात्मा कहलाता है।

३-वाङ्मयो भूतात्मा-"अन्नविवर्त्तम्-

३-भूतात्मा—
- रसगर्भिता वाक्———वाक् (मनोमयी)
- सुप्तरसगर्भिता वाक्——आपः (प्राणमय्य:)
- रसनिगलिता वाक्———अग्नि: (वाङ्मयः)

} — वाग्विवर्त्तम्

तदित्थं वाङ्मये भूतात्मनि, आत्मनोऽन्नभागे वा वाच-
स्त्रिवृद्भावात् मनः-प्राण-वाचां सम्बन्धात् कलोदयः।

——*——

४-त्रयाणां समष्टि:——

१—१—आनन्दः (मनोमयं मनः)
२—२—विज्ञानम् (मनोमयः प्राणः)
३—३—मनः (मनोमयी वाक्)
} —विद्या—त्रिवृन्मनः—ज्ञानात्मा

* * *

४—१—मनः (प्राणमयं मनः)
५—२—प्राणः (प्राणमयः प्राणः)
६—३—वाक् (प्राणमयी वाक्)
} —वीर्य्यम्—त्रिवृतः प्राणः-कर्म्मात्मा

* * *

७—१—वाक् (वाङ्मयं मनः)
८—२—आपः (वाङ्मयः प्राणः)
९—३—अग्निः (वाङ्मयी वाक्)
} —अन्नम्—त्रिवृता वाक्—भूतात्मा

"स वा एष आत्मा-वाङ्मयः, प्राणमयो
मनोमयः" इत्याहुः—)।

उक्त तीनों आत्मविवर्त्तों में क्रमशः **अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर,** ये तीनों पुरुषात्मा उपभुक्त हैं। ज्ञानात्मा अव्ययानुग्रहीत है, कर्म्मात्मा अक्षरानुग्रहीत है, एवं भूतात्मा क्षरानुग्रहीत है। त्रिपुरुषानुग्रहीत, त्रिकल आत्मा ही ईश्वर है, यही जीव है, यही जगत् है। आत्मक्षर–अक्षरानुग्रहीत, भूतात्मा,–कर्म्मात्मा को अपने गर्भ में रखने वाला, अव्ययानुग्रहीत **'ज्ञानात्मा'** ही **ईश्वर** है। अव्यय–क्षरानुग्रहीत, ज्ञानात्मा-भूतात्मा को अपने गर्भ में रखने वाला, अक्षरानुग्रहीत **'कर्म्मात्मा'** ही जीव है। एवं अव्यय–अक्षरानुग्रहीत, ज्ञानात्मा–कर्म्मात्मा को अपने गर्भ में रखने वाला, क्षरानुग्रहीत **'भूतात्मा'** ही **जगत्** है। तीनों की समष्टि ही **'सर्वम्''** है। यही त्रिमूर्त्ति है। इस त्रिमूर्त्ति के आधार पर ही **ब्रह्मा–विष्णु–शिवरूपा** त्रिमूर्त्ति का विकास हुआ है, एवं यही त्रिमूर्त्ति वेद की जननी है।

ब्रह्मा की मूलप्रतिष्ठा ईश्वर है, विष्णु की मूलप्रतिष्ठा जीव है, एवं शिव की मूलप्रतिष्ठा जगत् है। ब्रह्मा ज्ञानात्मा से अनुग्रहीत रहते हुए **ज्ञानपति** हैं, विष्णु कर्म्मात्मा से अनुग्रहीत होते हुए **कर्म्मपति** हैं, एवं **शिव** भूतात्मा से अनुग्रहीत रहते हुए **भूतपति** हैं। तीनों कहने को तीन हैं। वस्तुतः एक ही मूर्त्ति की तीन विकासधाराएँ हैं–**"एका मूर्त्तिस्त्रयोदेवा ब्रह्म–विष्णु–महेश्वराः"**।

जिसप्रकार मनःप्राणवाङ्मय आत्मा त्रिवृद्भाव से नियुक्त-युक्त है, एवमेव उक्त त्रिदेवमूर्त्ति भी त्रिवृद्भाव से नित्य युक्त है। प्रत्येक देवता में इतर दोनों देवताओं का गौणरूप से उपभोग होरहा है। ज्ञानात्मसंस्था में त्रिवृद्भावयुक्त ब्रह्मा का साम्राज्य है, कर्म्मात्मसंस्था में त्रिवृद्भावयुक्त शिव का साम्राज्य है, एवं भूतात्मसंस्था में त्रिवृद्भावयुक्त शिव का साम्राज्य है, जैसा कि आगे की तालिका से स्पष्ट होजाता है।

१–ईश्वरविवर्त्त––

१–अव्ययसंस्था——
- १–आनन्दः–ब्रह्ममयो ब्रह्मा
- २–विज्ञानम्–ब्रह्ममयो विष्णुः
- ३–मनः–––ब्रह्ममयः शिवः

} ज्ञानात्मानुग्रहीतस्त्रिवृन्मूर्त्तिः–ब्रह्मा–ज्ञानपतिः

२–जीवविवर्त्त––

२–अक्षरसंस्था––
- १–मनः–––विष्णुमयो ब्रह्मा
- २–प्राणः––विष्णुमयो विष्णुः
- ३–वाक्–––विष्णुमयः शिवः

} कर्म्मात्मानुग्रहीतस्त्रिवृन्मूर्त्तिः–विष्णुः–कर्म्मपतिः

३–विश्वविवर्त्त––

३–क्षरसंस्था––––
- १–वाक्–––शिवमयो ब्रह्मा
- २–आपः–––शिवमयो विष्णुः
- ३–अग्निः–––शिवमयः शिवः

} भूतात्मानुग्रहीतस्त्रिवृन्मूर्त्तिः–शिवः–भूतपतिः

मूलवेद का दिग्दर्शन कराते हुए हमने आत्मा को '**सच्चिदानन्दघन**' बतलाया है । इन तीनों आत्मकलाओं का क्रमशः **ज्ञानात्मा-कर्म्मात्मा-भूतात्मा**, इन तीन आत्मविवर्त्तों के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए । ज्ञान-कर्म्म-भूतवत् आनन्दादि तीनों कलाओं का भी त्रिवृद्भाव अनिवार्य्य है । फलतः इन तीनों में भी प्रत्येक में तीनों का उपभोग सिद्ध होजाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है । इस परिलेख का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से पाठकों को विदित होगा कि, एक ही आत्मा किसप्रकार त्रिवेद पर विश्राम कर रहा है । यद्यपि ये सभी विवर्त्त पाठकों को अटपटे से विदित होंगे । परन्तु हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि, अटपटे संसार का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए, साथ ही में विविधभावाक्रान्त विश्व के मूलभूत आत्मवेद की अपौरुषेयता समझने के लिए यह प्रपञ्च बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होगा । यदि इसमें ऐसी ग्रन्थियाँ न होतीं, तो वेद की अपौरुषेयता, एवं पौरुषेयता के सम्बन्ध में अनेक मतवादों को प्रवेश करने का अवसर ही नहीं मिलता ।

१—आनन्दः-आनन्दमयः-आनन्दः
२—विज्ञानम्—आनन्दमयं-विज्ञानम्
३—मनः-आनन्दमयं——मनः
} **आनन्दः**——आनन्दघनः-**ज्ञानात्मा**——**ब्रह्मा**

१—मनः—चिन्मयं मनः
२—प्राणः-चिन्मयः प्राणः
३—वाक्—चिन्मयी वाक्
} **चित्**——चिद्घनः-**कर्म्मात्मा**——**विष्णुः**

१—वाक्—सन्मयी वाक्
२—आपः-सन्मय्य आपः
३—अग्निः-सन्मयोऽग्निः
} **सत्**——सद्घनः—**भूतात्मा**——**शिवः**

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ--
वेदप्रतिष्ठानुगता-आत्मस्वरूपनिरुक्तिः

१

—*—

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
वेदप्रतिष्ठानुगता–आत्मस्वरूपनिरुक्तिः

१

———*———

श्रीः

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ-
सच्चिदानन्दात्मलक्षणा-वेदरुक्तिः

२

श्रीः

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ-
सच्चिदानन्दात्मलक्षणा--वेदनिरुक्ति

२

---*---

आत्मप्रकरण उपरत हुआ। अब आत्मदृष्टि से मूलवेद का विचार आरम्भ किया जाता है। सच्चि-दानन्दघन आत्मा ही विश्व का मूलाधार है। यही **क्षरकला** से विश्व बना हुआ है, **अक्षरकला** से विश्व-कर्त्ता [विश्व का आत्मा] बना हुआ है, एवं अव्ययकला से विश्व का आलम्बन बना हुआ है। इस अव्ययब्रह्म की अवान्तर पाँच कला मानीं गईं हैं। वे ही पाँचों कलाएँ क्रमशः **आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्** नाम से प्रसिद्ध हैं। इन में **मन-प्राण-वाक्**, इन तीनों कलाओं की उन्मुग्धावस्था ही **'सत्ता'** है, विज्ञानभाव **'चित्'** है, एवं **आनन्द** प्रसिद्ध है। इसप्रकार पाँच कलाओं का तीन कलाओं में अन्तर्भाव होजाता है।

मूलप्रभवतत्त्व को-**'यत उत्तिष्ठन्ति सर्वे भावाः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार **'उक्थ'** कहा जाता है। विश्व में जितने पिण्ड हैं, सब एक एक स्वतन्त्र उक्थ है। प्रत्येक के आनन्दभाग से प्राणों का उत्थान हुआ करता है। इस आनन्दमय उक्थतत्त्व को संकेतभाषानुसार **'ऋक्'** कहा जाता है। इन उक्थरूप यच्चायावत् ऋचाओं का जो मूलस्रोत है, उसे ही **महदुक्थ**, किंवा **महोक्थ** [सब से बड़ा उक्थ] कहा जाता है। महोक्थ में उक्थरूप सम्पूर्ण **ऋचाएँ अन्तर्भूत** हैं, अतएव इस महोक्थरूपा ऋक् को-**'ऋचां समुद्रः'** [ऋचाओं का समुद्र] कहा जाता है। **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति** [तै० उप०] इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार उक्थरूप सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्च का मूलप्रभव आनन्द ही है। अतः हम इसे अवश्य ही **महोक्थ** कह सकते हैं, एवं यही पहिला **'मूलऋग्वेद'** है।

प्रत्येक पदार्थ सत्ताभाव के नित्य आक्रान्त रहता है। **'अस्ति'** प्रतीति सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। भाव भी है, अभाव भी है, इसप्रकार भावाभाव सर्वत्र **सत्तारस** अनुस्यूत है। उपाधिभेद से विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। इसीलिए एक की सत्ता उच्छिन्न होजाने पर भी अन्यसत्ता का उच्छेद नहीं देखा जाता। यह सत्ताभाव ही हमारे ज्ञान की अवसानभूमि है। अभिलषित पदार्थ जबतक हमें नहीं मिल जाता, तबतक हम एकप्रकार के **क्षोभ** का अनुभव किया करते हैं। अभिलषित पदार्थ के प्राप्त होजाने पर वह क्षोभ शान्त होजाता है, तद्विषयक जिज्ञासाभाव उपरत होजाता है। विषयप्राप्ति ही आत्मवृत्ति की अवसानभूमि है, एवं अवसान ही **साम है**। क्योंकि अवसानप्रवर्त्तक विषय सत्तात्मक हैं, अतः हम सत्तात्मक इन पदार्थों को अवश्य ही **'साम'** कह सकते हैं। जितनी व्यक्तियाँ हैं, उतने ही सत्ताभाव

हैं, फलतः उतने हीं सामों की सत्ता सिद्ध होजाती है । व्यक्तिभाव से सम्बन्ध रखने वाला यह सत्ताभाव विशेषभावापन्न बन रहा है । नाम–रूप–कर्म्मात्मक विषयों के सम्बन्ध से वही व्यापक–सामान्य–सत्ताभाव विशेषभावों में परिणत होरहा है । इन सब विशेष–सत्ताओं का मूल वही व्यापक आत्मसत्ता है । वह इन सब सामों की अन्तिम अवसानभूमि है । यही अवसानसामात्मक महा–सत्ताभाव **'महाव्रत'** नाम से प्रसिद्ध है । जिसप्रकार आत्मानन्द ऋचाओं का समुद्र कहलाता है, एवमेव यह आत्मसत्ता **"साम्नां समुद्रः"** (सामों का समुद्र) नाम से प्रसिद्ध है, एवं यही दूसरा **' मूलसामवेद'** है ।

आनन्द उस ओर है, सत्ता इस ओर है, दोनों का संयोजक ज्ञानसूत्र है । हमारे आत्मानन्द के साथ सत्तात्मक विषयों का योग करा देना एकमात्र चिल्लक्षण विज्ञान का ही कार्य्य है-**'तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'** । विज्ञान से ही सत्ता की उपलब्धि होती है । सत्तोपलब्धि ही आनन्द का कारण है । संयोजक यह ज्ञानसूत्र ही आनन्दात्मा के साथ सत्ता का मेल कराने के कारण 'यजुः' कहलाया है । व्यक्तिभेद से ज्ञानभेद है । ज्ञानभेद से यजुः भी भिन्न भिन्न हैं । ज्ञानात्मक संयोजक इन सब यजुओं का मूलस्रोत वही आत्मविज्ञानरूप पुरुष है । यह सब यजुओं का आलम्बन महायजुः है, अतएव इसे-**'यजुषां समुद्रः'** (यजुओं का समुद्र) कहा जाता है, एवं यही तीसरा **'मूलयजुर्वेद'** है ।

निष्कर्ष यही हुआ कि, विश्व में जितने भी पदार्थ हैं–**'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वे सब सच्चिदानन्दघन ईश के प्रवर्ग्य-भाग बनते हुए सच्चिदानन्दात्मक ही हैं । पदार्थ अनन्त हैं । प्रत्येक पदार्थ अपने आनन्दभाग की अपेक्षा उक्थरूप ऋक् है, विज्ञानभाग की अपेक्षा अर्क (सूत्र) रूप यजुः है, एवं सत्तापेक्षया साम है । इन सबका मूलाधार वही ईश्वर-प्रजापति है । विश्वान्तर्गत जितने उक्थरूप आनन्द हैं, वे सब उसी महान् आत्मनन्द की मात्रा लेकर उपजीवित हैं । विश्वान्तर्गत यच्चयवात् ज्ञान उस ज्ञान की मात्राएँ हैं, विश्वान्तर्गत विशेषभावापन्न सभी सत्ताभाव उस महा आत्मसत्ता से सत् बन रहे हैं । ऐसी स्थिति में उस मूल सच्चिदानन्दघन आत्मा को अवश्य ही ऋक्–यजुः–सामों का समुद्र कहा जासकता है । विश्वान्तर्गत वैयक्तिक ऋक्–यजुः–साम जहाँ **उक्थ–व्रत–अग्नि**–नामों से व्यवहृत हुए हैं, वहाँ विश्वालम्बन उस सामान्य आत्मा के आत्मरूप तीनों व्यापक वेद क्रमशः **महोक्थ (ऋक्) महाव्रत (सामा) पुरुष (यजुः)** इन नामों से प्रसिद्ध हैं । यही सर्वाधार पहिला आत्मवेद, किंवा मूलवेद है । आनन्द–चेतना–सत्ता ही ईश्वर है । आनन्द–चेतना–सत्ता ही क्रमशः ऋक्–यजुः–साम है । इसीलिए पुराणों में सच्चिदानन्दलक्षण ब्रह्म को– **'वेदमूर्त्ति'** नाम से व्यवहृत किया गया है ।

आत्मवेद के मौलिक विवर्त्तभाग को लक्ष्य में रखते हुए प्रकारान्तर से मूलवेद का विचार कीजिए । आत्मा को हमने सच्चिदानन्दघन बतलाया है । इस आत्मा के विश्व–विश्वात्मा–विश्वचर, भेद से तीन विवर्त्त हैं । ये ही तीनों विज्ञानभाषा में क्रमशः **सृष्ट–प्रविष्ट--प्रविविक्त,** इन नामों से भी व्यवहृत हुए हैं । आत्मा का जो अंश भौतिक विषयरूप में परिणित होगया है, वही इस का सृष्टरूप कहलाया है, वही सृष्टरूप **'विश्व'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है । **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** इस श्रौत **निगमवचन** के अनुसार मायोपाधिक जो आत्मा एकांश से विश्व उत्पन्न कर शेषांश (तीन अंशों) से विश्व में सर्वत्र प्रविष्ट होजाता है, वही **विश्वाध्यक्ष विश्वेश्वर विश्वात्मा** इत्यादि नामों से सम्बोधित हुआ है । आत्मा का जो विश्व बन गया है, आत्मा यदवच्छेदेन (मायावच्छेदेन) विश्वात्मा बन गया है, इन दोनों

से बहिर आत्मा का जो व्यापकरूप बच गया है, वही तीसरा प्रविविक्तभाग है। इसे ही 'विश्वातीत'
'परात्पर' 'परमेश्वर' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। आत्मा के ये तीनों रूप क्रमशः अविज्ञेय,
दुर्विज्ञेय, सुविज्ञेय, भी कहला सकते हैं। तीनों ही सच्चिदानन्द के विवर्त्त हैं। फलतः तीनों में सत्ता–चेतना
आनन्द, इन तीनों भावों की सत्ता सिद्ध होजाती है। परात्पर असीम होने से नित्य है। अतः हम इस के
भावों को क्रमशः **नित्यानन्द, नित्यविज्ञान, नित्यसत्ता,** इन नामों से पुकारेंगे। इसी प्रारम्भिक सर्वमूल
परात्पर का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है–**'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**। विश्वात्मा मर्त्य विश्व की
अपेक्षा से नित्य होता हुआ भी मायापेक्षया अनित्यवत् है। इस के तीनों विभाग क्रमशः **आत्मानन्द, आत्म-**
ज्ञान, आत्मसत्ता, कहलावेंगे। एवं तीसरे मर्त्य विश्व के तीनों विभाग क्रमशः **विषयानन्द, विज्ञयज्ञान,**
विषयसत्ता, नामों से सम्बोधित होंगे। इसप्रकार तीन विवर्त्त–भेदों से सच्चिदानन्द ९ भागों में विभक्त
होजाता है।

पूर्वोक्त **[1]ऋक्–[2]साम–[3]यजुः** के पारिभाषिक लक्षणों के अनुसार **[1]आनन्द–[2]चेतना–[3]सत्ता**
त्मक '[1]**ऋक्–[2]यजुः–[3]साम**' इन तीनों वेदों में क्रमशः पूर्वोक्त तीनों त्रयीवेदों का उपभोग सिद्ध होजाता
है। '**[1]नित्यानन्द**' '[1]ऋग्वेद' है, '**[2]नित्यसत्ता**' '[2]सामवेद' है, इन दोनों का संयोजक '**[3]नित्यज्ञान**'
'[3]यजुर्वेद' है, एवं यही वेदत्रयी का पहिला विभाग है। '**[1]आत्मानन्द**' '[1]ऋग्वेद' है, '**[2]आत्मसत्ता**'
'[3]सामवेद' है, इन दोनों का संयोजक '**[3]आत्मज्ञान**' '[3]यजुर्वेद' है, एवं यही वेदत्रयी का दूसरा विभाग है।
'**[1]विषयानन्द**' '[1]ऋग्वेद' है, '**[2]विषयसत्ता**' '[2]सामवेद' है, दोनों का संयोजक '**[3]विषयज्ञान**' '[3]यजुर्वेद
है, एवं यही वेदत्रयी का तीसरा विभाग है।

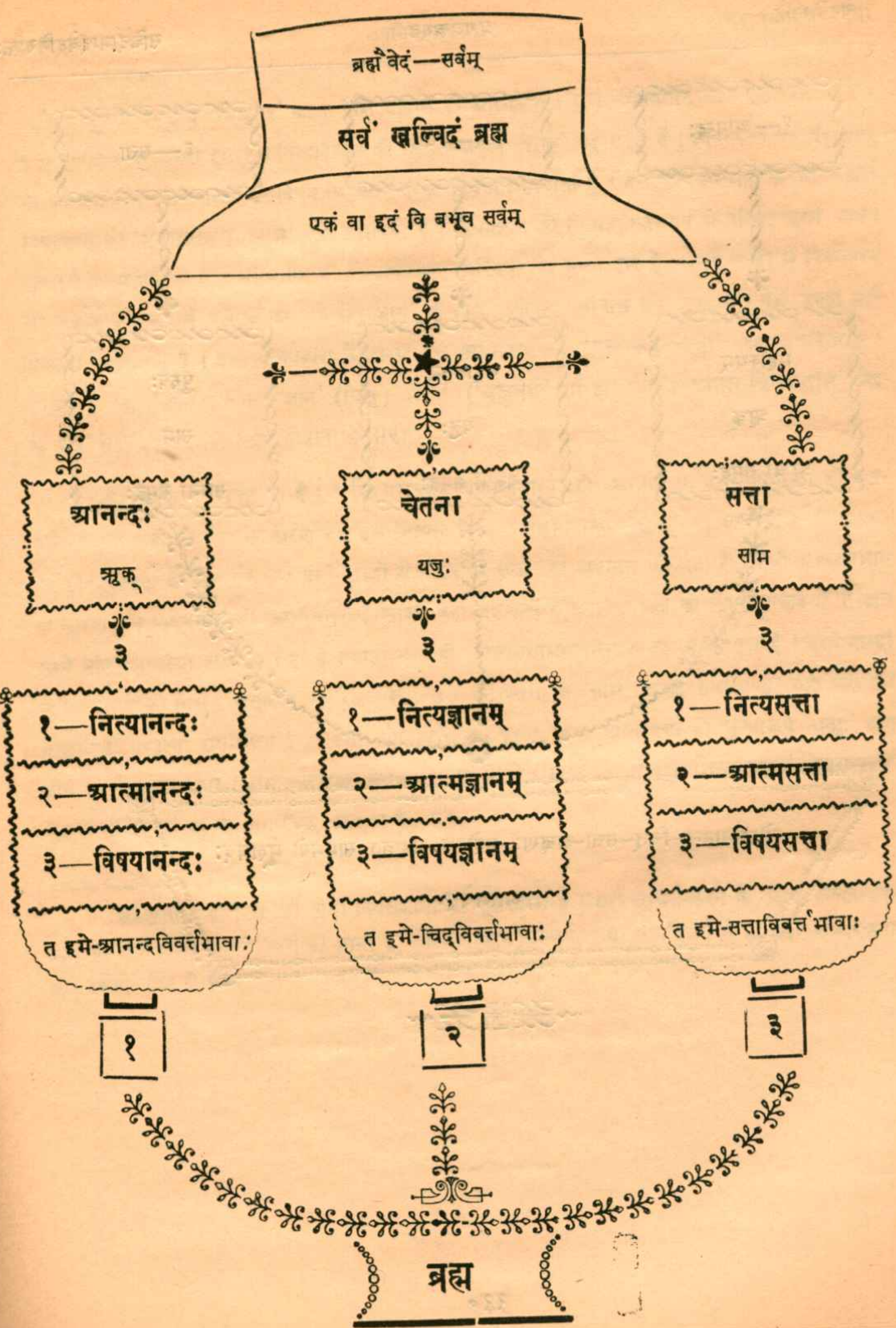
इस विभागों का मौलिक रहस्य यही है कि, '**[1]नित्यानन्द**' ही नित्यसत्ता, तथा नित्यविज्ञान का
मूलस्तम्भ (उपक्रमस्थान) है। अतएव उपक्रमस्थानीय, उक्थलक्षण, महदुक्थरूप इस नित्यानन्द को अवश्य
ही '**[1]ऋग्वेद**' कहा जासकता है। '**[2]नित्यसत्ता**' के आधार पर ही उक्थलक्षण नित्यानन्द, तथा पुरुषलक्षण
नित्यविज्ञान का पर्य्यवसान (अवसान, समाप्ति) है। अतएव अवसानस्थानीय व्रतलक्षण, महाव्रतरूप इस
नित्यासत्ता को अवश्य ही '**[2]सामवेद**' माना जासकता है। '**[3]नित्यविज्ञान**' ही उक्थलक्षण नित्यानन्द, तथा
नित्यसत्ता दोनों का संयोजक सूत्र है। इसी योजनाभाव की अपेक्षा से मध्यस्थानीय, अग्निलक्षण, पुरुषरूप इस
नित्यविज्ञान को अवश्य ही '**[3]यजुर्वेद**' कहा जासकता है।

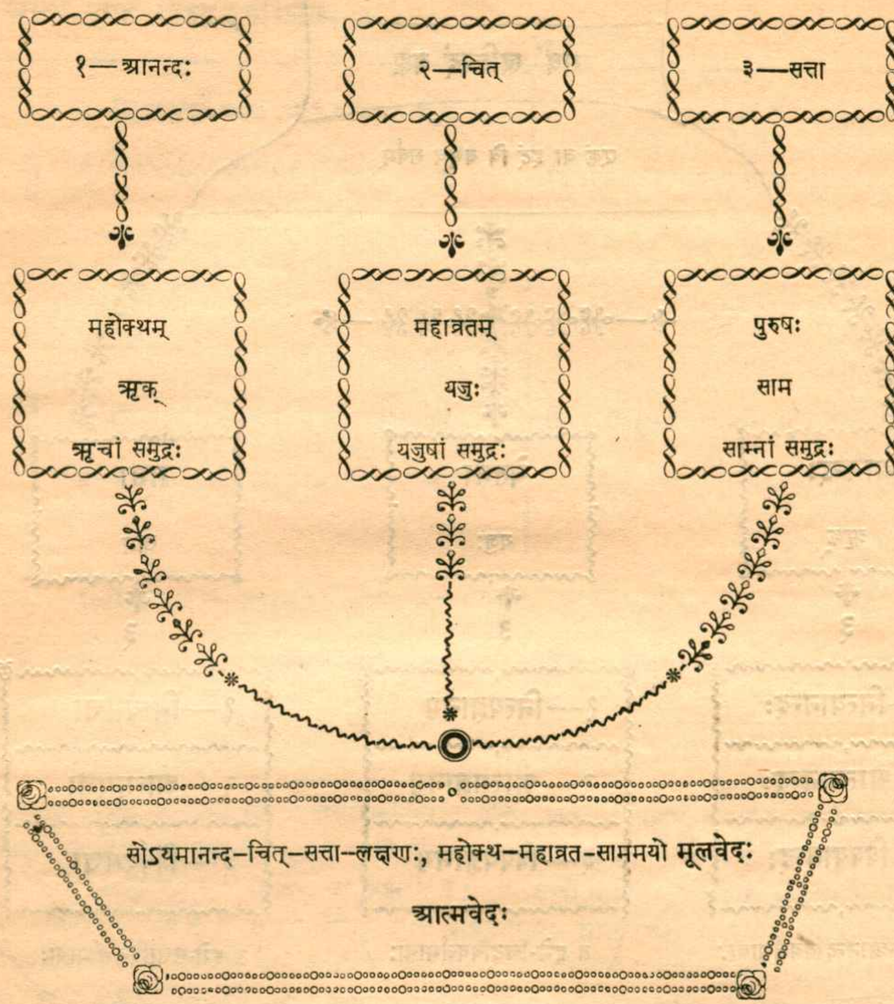
इसी प्रकार आत्मसत्ता, आत्मज्ञान, दोनों का मूलउक्थ बनता हुआ '**[1]आत्मानन्द**' '**[1]ऋग्वेद**' है।
आत्मानन्द तथा आत्मज्ञान, दोनों की अवसानभूमि बनती हुई '**[2]आत्मसत्ता**' '[2]सामवेद' है। एवं आत्मानन्द
तथा आत्मसत्ता, दोनों का संयोजक बनता हुआ '**[3]आत्मज्ञान**' '[3]यजुर्वेद' है। इसी प्रकार विषयसत्ता, तथा
विषयज्ञान, दोनों का मूल हुआ '**[1]विषयानन्द**' '[1]ऋग्वेद' है। विषयानन्द, तथा विषयज्ञान, दोनों
की अवसानभूमि बनती हुई '**[2]विषयसत्ता**' '[2]सामवेद' है। एवं विषयानन्द, तथा विषयसत्ता, दोनों का
संयोजक बनता हुआ [3]'**विषयज्ञान**' '[3]यजुर्वेद' है। तीनों संस्थाओं में सर्वत्र ऋग्वेद '**महोक्थ**' है, सामवेद
'**महाव्रत**' है, एवं यजुर्वेद '**पुरुष**' है, जैसाकि आगे के दोनों परिलेखों से स्पष्ट हो जाता है।

आत्मानुगत-त्रिवृद्वेदपरिलेखः—

१	१-नित्यानन्दः-महोक्थम् (आनन्दः-ऋक्) २-नित्यज्ञानम्--महाव्रतम् (चेतना—यजुः) ३-नित्यसत्ता—-पुरुषः (सत्ता—-साम)	विश्वातीतः (नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म)
२	१-आत्मानन्दः-महोक्थम् (आनन्दः-ऋक्) २-आत्मज्ञानम्—महाव्रतम् (चेतना—यजुः) ३-आत्मसत्ता—-पुरुषः (सत्ता—-साम)	विश्वात्मा (सत्यं ज्ञाननन्तं ब्रह्म)
३	१-विषयानन्दः—महोक्थम् (आनन्दः-ऋक्) २-विषयज्ञानम्—महाव्रतम् (चेतना—यजुः) ३-विषयसत्ता-—पुरुषः (सत्ता—-साम)	विश्वम्--नामरूपे सत्यम्

उक्त विवर्त्त का दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए । पहिला विवर्त्त **'आनन्द'** का है । **'नित्यानन्द'** ही आत्मानन्द, एव विषयानन्द का मूल है । इसी मूलभाव के कारण हम इस नित्यानन्द को' **महोक्थरूप-ऋक्'** कह सकते हैं । विषयानन्द पर आनन्द का अवसान है । दूसरे शब्दों में विषय पर आनन्द का अवसान होजाता है । इसी अवसानभाग के कारण इस विषयानन्द को **'महाव्रतरूप--साम'** कहा जासकता है । विषयानन्द को नित्यानन्दस्वरूप में परिणत करने वाला मध्यस्थ आत्मानन्द ही नित्यानन्दभावपरिणति का मुख्य द्वार है । दूसरे शब्दों में-विषयानन्द को विशुद्ध आनन्दरूप में परिणत कर, उसे नित्यानन्द के साथ [अभेद सम्बन्ध से] युक्त करा देने वाला यही मध्यस्थ आत्मानन्द है । इसी योगप्रवृत्ति के कारण इस आत्मानन्द को **'पुरुषरूप--यजुः'** कहा जासकता है । इसप्रकार **'ऋक्'**-लक्षण केवल 'आनन्द' में हीं (**'ऋग्वेद'** में हीं)- **''निन्य-आत्मा-विषयानन्द''** भेद से तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है ॥१॥


ब्रह्मैवेदं—सर्वम्
सर्वं खल्विदं ब्रह्म
एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्
आनन्दः
ऋक्
३
१—नित्यानन्दः
२—आत्मानन्दः
३—विषयानन्दः
त इमे-आनन्दविवर्त्तभावाः
१
चेतना
यजुः
३
१—नित्यज्ञानम्
२—आत्मज्ञानम्
३—विषयज्ञानम्
त इमे-चिद्विवर्त्तभावाः
२
सत्ता
साम
३
१—नित्यसत्ता
२—आत्मसत्ता
३—विषयसत्ता
त इमे-सत्ताविवर्त्तभावाः
३
ब्रह्म


१—आनन्दः
२—चित्
३—सत्ता
महोक्थम्
ऋक्
ऋचां समुद्रः
महाव्रतम्
यजुः
यजुषां समुद्रः
पुरुषः
साम
साम्नां समुद्रः
सोऽयमानन्द–चित्–सत्ता–लक्षणः, महोक्थ–महाव्रत–साममयो मूलवेदः
आत्मवेदः

दूसरा विवर्त्त है 'विज्ञान' का। [२]नित्यज्ञान ही आत्मज्ञान, एवं विषयज्ञान की मूलप्रतिष्ठा है। इसी मूलभाव के कारण हम इस नित्यविज्ञान को 'महोक्थरूप–ऋक्' कह सकते हैं। विषयज्ञान पर ही ज्ञान का अवसान है। दूसरे शब्दों में–विषय पर आनन्द का अवसान होजाता है। इसी अवसानभाव के कारण इस विषयज्ञान को 'महाव्रतरूप–साम' कहा जासकता है। विषयज्ञान को नित्यज्ञान स्वरूप में परिणत करने वाला मध्यस्थ आत्मज्ञान ही है। आत्मज्ञान ही नित्यज्ञानभाव–परिणति का मुख्य द्वार है। दूसरे शब्दों में विषयज्ञान को विशुद्ध ज्ञानरूप में परिणत कर उसे नित्यज्ञान के साथ (अभेद सम्बन्ध से) युक्त करा देने वाला यही मध्यस्थ आत्मज्ञान है। इसी योगप्रवृत्ति के कारण इस आत्मज्ञान को 'पुरुषरूप–यजुः' कहा जासकता है। इसप्रकार 'यजु'-लक्षण केवल 'ज्ञान' (चित्) में हीं ('यजुर्वेद' में हीं)-'नित्य–आत्म-विषयज्ञान' भेद से तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है ॥२॥

तीसरा विवर्त्त सत्ता का है। [३]'नित्यसत्ता' (परमसामान्य) ही आत्मसत्ता, एवं विषयसत्ता की मूल-प्रतिष्ठा है। इसी मूलभाव के कारण हम इस नित्यसत्ता को 'महोक्थरूप–ऋक्' कह सकते हैं। विषयसत्ता पर ही नित्यसत्ता का अवसान है। दूसरे शब्दों में विषय पर सत्ता का अवसान होजाता है। इसी अवसानभाव के कारण इस विषयसत्ता को 'महाव्रतरूप-साम' कहा जासकता है। विषयसत्ता को नित्यसत्तारूप में परिणत करने वाली मध्यस्था आत्मसत्ता ही है। आत्मसत्ता ही नित्यसत्ताभावपरिणति का मुख्य द्वार है। दूसरे शब्दों में विषयसत्ता को विशुद्ध सत्तारूप में परिणत कर, उसे नित्यसत्ता के साथ (अभेद सम्बन्ध से) युक्त करा देने वाली यही मध्यस्था आत्मसत्ता है। इसी योगप्रवृत्ति के कारण इस आत्मसत्ता को 'पुरुषरूप–यजुः' कहा जासकता है। इसप्रकार 'साम'–लक्षण केवल 'सत्ता' में हीं ('सामवेद' में हीं)-नित्य-आत्म-विषयसत्ता' भेद से तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है* ॥३॥

---

*–आनन्द ही [रस ही] तीनों विवर्त्तभावों का मूलस्तम्भ है। यही सूचित करने के लिए शब्दरचनात्मक जो क्रम हमने आनन्दविवर्त्त का माना है, चेतना (ज्ञान)-विवर्त्त, तथा सत्ताविवर्त्त में भी वही शब्दरचना-क्रम रक्खा गया है।

आत्मविवर्त्तानुगतस्त्रिवृद्वेदपरिलेखः—

	१—१—नित्यानन्दः—महोक्थम्—ऋक्	
१	२—२—आत्मानन्दः—महाव्रतम्—साम	—आनन्दः (महोक्थं-ऋक्) [१] [तदित्थं महोक्थलक्षणे, आनन्दमये, ऋग्वेदे
	३—३—विषयानन्दः—पुरुषः—यजुः	नित्य-आत्म-विषयानन्दभेदाद्वेदत्रयोपभोगः]
	४—१—नित्यज्ञानम्—महोक्थम्—ऋक्	
२	५—२—आत्मज्ञानम्—महाव्रतम्—साम	—चेतना (पुरुषः—यजुः) [२] [तदित्थं पुरुषलक्षणे, चिन्मये, यजुर्वेदे
	६—३—विषयज्ञानम्—पुरुषः—यजुः	नित्य-आत्म-विषयचिद्भेदाद्वेदत्रयोपभोगः
	७—१—नित्यसत्ता—महोक्थम्—ऋक्	
३	८—२—आत्मसत्ता—महाव्रतम्—साम	—सत्ता (महाव्रतं-साम) [३] [तदित्थं महाव्रतलक्षणे, सन्मये, सामवेदे
	९—३—विषयसत्ता—पुरुषः—यजुः	नित्य-आत्म-विषयसद्भेदाद्वेदत्रयोपभोगः]

इति—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
सच्चिदानन्दात्मलक्षणा—वेदनिरुक्तिः
२

श्रीः

इति–वेदनिरुक्तौ

सच्चिदानन्दात्मलक्षणा–वेदनिरुक्तिः

२

श्री:

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

अमृत-मृत्युमय-आत्मलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

३

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

अमृत-मृत्युमय-आत्मलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

३

—–*– –

सच्चिदानन्दघन आत्मा के सृष्टिसाक्षी, मुक्तिसाक्षी–भेद से दो विवर्त्त माने जाते हैं । इन दोनों का सम्बन्ध उसी पूर्वोक्त पञ्चकल अव्ययात्मा से है । आनन्दविज्ञानमनोमय वही अव्यय मुक्तिसाक्षी है, एवं मनः प्राणवाङ्मय वही अव्यय सृष्टिसाक्षी है । ग्रन्थिविमोकलक्षणा मुक्ति में मुक्तिसाक्षी आत्मा प्रधान रहता है, सृष्टिसाक्षी आत्मा सहकारी रहता है । एवं ग्रन्थिबन्धनलक्षणा सृष्टि में सृष्टिसाक्षी आत्मा प्रधान रहता है, एवं मुक्तिसाक्षी सहकारी बना रहता है । आनन्द-विज्ञान-मनोमय आत्मा उस एक ही आत्मा का [अव्ययात्मा का] विद्या भाग है, मनःप्राणवाङ्मय आत्मा उसी आत्मा का कर्म्मभाग है । विद्याभाग में अमृतरस की प्रधानता है, अतएव ज्ञानमूर्त्ति यह अव्यय '**निष्काम**' है । कर्म्मभाग में मृत्युरूप बल की प्रधानता है, अतएव कर्म्ममूर्त्ति यह अव्यय '**सकाम**' है । अमृत-मृत्यु की समष्टि ही "**अहम्**" (आत्मा) है–"**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !**" ।

१——१—आनन्दः ⎫
२——२—विज्ञानम् ⎬ मुक्तिसाक्षी-अव्ययात्मा-निष्कामः (अमृतम्) ⎫
३— ⎧ ३—मनः ⎭ ⎪
 ⎩ १—मनः ⎫ ⎬—**आत्मा**
४——२—प्राणः ⎬ सृष्टिसाक्षी-अव्ययात्मा-सकामः (मृत्युः) ⎪
५——३—वाक् ⎭ ⎭

पूर्वप्रकरण में समष्टिरूप से मूलवेद का दिग्दर्शन कराया गया था । वहाँ बतलाया गया था कि, आनन्द [1]**आनन्द** है, विज्ञान [2]**चित्** है, मनः-प्राण-वाक् की समष्टि [3]**सत्ता** है । ये ही तीनों क्रमशः [1]**ऋक्**-[2]**यजुः**-[3]**सामवेद** हैं । अत्र "[1]**आनन्द**-[2]**विज्ञान**-[3]**मन**' का एक स्वतन्त्र विभाग मान कर, एवं [1]**मनः**-[2]**प्राण**-[3]**वाक्** का एक स्वतन्त्र विभाग मानकर अमृत-मृत्युभेद से मूलवेद का विचार किया जाता है । मुक्ति-

साक्षी, अमृतप्रधान, विद्यात्मा का आनन्दभाग विज्ञान तथा मन (अन्तर्म्मन) का मूलाधार है। मूलप्रभव को ही उक्थ, किंवा **महोक्थ** कहा जाता है। महोक्थरूप यह मूलानन्द ही 'ऋक्' है। 'श्वोवसीयस्' नाम से प्रसिद्ध मन पर आनन्द का अवसान है। अतएव अवसानलक्षण, महाव्रतस्थानीय, इस अन्तर्म्मन को हम "साम" कह सकते हैं। मन और आनन्द का संयोजक मध्यस्थ विज्ञान है। दूसरे शब्दों में अन्तर्म्मन को आनन्दरूप में परिणत करने वाला मध्यस्थ विज्ञान ही है। इसी योगप्रवृत्ति के कारण पुरुषस्थानीय इस विज्ञानभाव को हम 'यजुः' कहसकते हैं। ये ही मुक्तिसाक्षी, विद्यात्मक, अव्ययात्मा के तीनों वेद हैं।

सृष्टिसाक्षी, कर्म्मप्रधान, अव्ययात्मा का मन (बहिर्म्मन) ही सम्पूर्ण कामनाओं का प्रभव है—**"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"**। काममय यह मन ही प्राण तथा वाक् का मूलाधार है। इसी मूलभाव के कारण हम इसे महोक्थस्थानीय 'ऋक्' कह सकते हैं। वाक् पर ही मन की कामना का अवसान है। फलतः अवसानलक्षणा महाव्रत—स्थानीया वाक् को मनोरूप में परिणत करने वाला मध्यस्थ प्राण ही है। इसी योगप्रवृत्ति के कारण पुरुषस्थानीय इस प्राणभाव को हम 'यजुः' कह सकते हैं। सृष्टिसाक्षी, कर्म्मात्मक, अव्ययात्मा के ये ही तीनों वेद हैं।

१-मुक्तिसाक्षी आनन्दविज्ञानमनोमय विद्यात्मक आत्मा में-
त्रयीवेदभुक्ति

अमृतवेदाः—

१—आनन्दः—महोक्थम्—ऋग्वेदः
२—विज्ञानम्—पुरुषः——यजुर्वेदः
३—मनः——महाव्रतम्—सामवेदः

} विद्यात्मकास्त्रयोवेदाः

२--सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाङ्मय कर्म्मात्मक आत्मा में-
त्रयीवेदभुक्ति

मृत्युवेदाः

१—मनः—महोक्थम्—ऋग्वेदः
२—प्राणः-पुरुषः——यजुर्वेदः
३—वाक्—महाव्रतम्-सामवेदः

| कर्म्मात्मकास्त्रयोवेदाः

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
अमृत-मृत्युमय-अमृतात्मलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

३

———*———

श्री:

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
अमृत-मृत्यु-मय-अमृतात्मलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

३

श्री:

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

मनः-प्राण-वाङ्-मयी-त्रिकलवेदनिरुक्तिः

४

श्री:

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

मनःप्राणवाङ्मयी-त्रिकलवेदनिरुक्तिः

४

—— * ——

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इस श्रुति के अनुसार आत्मा मनः-प्राण-वाङ्मय है। इस त्रिकल आत्मा के मन से **कामना** का, प्राण से **तप** का, एवं वाक् से **श्रम** का उदय होता है। काम–तपः–श्रम–रूप इन तीन सृष्टयनुबन्धों से उस सृष्टिसाक्षी मनः प्राण-वाङ्मय आत्मा ने सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण किया है। वह आत्मा **"मनसा नित्यं कामयते, प्राणेन नित्यं तप्यते, वाचा नित्यं श्राम्यति"**। काममय मन **ज्ञानशक्ति** है, तपोमय प्राण **क्रियाशक्ति** है, श्रममयी वाक् **अर्थशक्ति** है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ रूप से वह मन.-प्राणवाङ्मय आत्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होरहा है। ज्ञानशक्तिघन काममय मन ही क्रिया-अर्थरूप तपःश्रममय प्राण, तथा वाक् की मूलप्रतिष्ठा है। यही **मन** महोक्थरूप **'ऋक्'** है। अर्थमयी वाक् मनः–प्राण की अवसानभूमि होने से **'साम'** है। संयोजक क्रियामय प्राण ही **'यजुः'** है। त्रिवृतकरण-विज्ञान' के अनुसार आत्मा की ये तीनों कलाएँ (प्रत्येक) त्रिवृद्भाव से युक्त हैं। मन भी मनःप्राणवाङ्मय है, प्राण भी मनःप्राणवाङ्मय है, एवं वाक् भी मनःप्राणवाङ्मयी है। मन की तीनों कलाएँ मनोमयीं हैं, प्राण की तीनों कलाएँ प्राणमयीं हैं, एवं वाक् की तीनों कलाएँ वाङ्मयी हैं। इस त्रिवृद्भाव के कारण ऋङ्मय केवल त्रिवृन्मन में भी मनः प्राण-वाक् के भेद से तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण यजुर्म्मय त्रिवृत्प्राण, तथा सामययी त्रिवृता वाक् में भी मनःप्राण-वाक् के भेद से तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट होरहा है-

१–ज्ञानशक्तिमयं मनः	महोक्थम्	ऋक्	}—मूलवेदः
२–क्रियाशक्तिमयः प्राण	पुरुषः	यजुः	
३–अर्थशक्तिमयी वाक्	महाव्रतम्	साम	

१—मनःप्राणवाङ्मये मनसि त्रिवृद्भावाद्वेत्रयोपभोगः

१–मनोमयं मनः——महोक्थम्——ऋक्
२–मनोममयः प्राणः–पुरुषः————यजुः } -मनः-ऋग्वेदः
३–मनोमयी वाक्——महाव्रतम्——साम

* * * *

२–मनःप्राणवाङ्मये प्राणे त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः

१–प्राणमयं मनः——महोक्थम्——ऋक्
२–प्राणमयः प्राणः——पुरुषः———यजुः } प्राणः-यजुर्वेदः
३–प्राणमयी वाक्——महाव्रतम्———साम

* * * *

३–मनःप्राणवाङ्मय्यां वाचि त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः

१—वाङ्मयं मनः—— महोक्थम्——ऋक्
२—वाङ्मयः प्राणः——पुरुषः——यजुः } वाक्-सामवेदः
३—वाङ्मयी वाक्——महाव्रतम्——साम

इति-वैज्ञानिवेदनिरुक्तौ
मनःप्राणवाङ्मयी-त्रिकलवेदनिरुक्तिः

४

—*—

श्रीः

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
मनः-प्राण-वाङ्-मयी-त्रिकलवेदनिरुक्तिः
४

———*———

श्रीः

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
उक्थ-ब्रह्म-सामलक्षणा-वेदनिरुक्तिः
५

श्रीः

अथ- वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

उक्थ-ब्रह्म-साम-मयी-वेदनिरुक्तिः

५

यद्यपि आत्मा का (विशुद्ध-निर्धर्म्मक-असङ्ग आत्मा का) कोई भी स्वरूप-लक्षण नहीं होसकता। तथापि विश्वदृष्टि से सोपाधिक बने हुए सृष्टिमूलक आत्मा का अवश्य ही स्वरूप-लक्षण किया जासकता है। "यस्य यदुक्थं सत्, ब्रह्म सत्, साम स्यात्-स तस्यात्मा" इस आत्मलक्षण के अनुसार जो कारणभूत मौलिकतत्त्व जिस कार्य्यभूत यौगिकतत्त्व का **उक्थ-ब्रह्म-साम** होता है, उस कार्य्य का वह उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण कारण आत्मा माना जाता है। प्रभवस्थान को वैदिकभाषा में **उक्थ** कहा जाता है, प्रतिष्ठास्थान **ब्रह्म** नाम से प्रसिद्ध है, एवं परायणस्थान **साम** नाम से व्यवहृत हुआ है। उदाहरण के लिए घट को ही लीजिए। संसार में मृण्मय जितने भी घट हैं, इन सबका मूलप्रभव मिट्टी है। मिट्टी से ही यच्चयावत् घट प्रसूत हुए हैं। अतः मिट्टी को हम सब घड़ों का उक्थ (प्रभवस्थान) कह सकते हैं। मिट्टी से उत्पन्न घट, मिट्टी को छोड़ कर कभी स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकते। मिट्टी ही सब घड़ों की प्रतिष्ठाभूमि है। मिट्टी को हम घड़ों का ब्रह्म (प्रतिष्ठास्थान) मान सकते हैं। घट परस्पर सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु मिट्टी सब घड़ों के लिए समान है। इस दृष्टि से भी मिट्टी घड़ों का साम (समरूपेण व्याप्त) है। एवं अन्त में घड़े मिट्टी में हीं लीन होजाते हैं। दूसरे शब्दों में मिट्टी ही घड़ों की अवसानभूमि है। इस दृष्टि से भी मिट्टी घड़ों का साम (परायणस्थान) है। क्योंकि मिट्टी घड़ों का उक्थ-ब्रह्म-साम है, इसलिए मिट्टी घड़ों का आत्मा है। बस जहाँ उक्त लक्षण का समन्वय होजाय, वहीं आप आत्मशब्द का व्यवहार कर सकते हैं। इसी प्रकार विविधप्रकार के यच्चयावत् सुवर्णमय आभूषणों का उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण सुवर्ण आत्मा कहलागा। विविधप्रकार के यच्चयावत् सूत्रमय वस्त्रों का उक्थ ब्रह्म-सामलक्षण तन्तु आत्मा कहलाएगा।

इसी आत्मलक्षण का **आधिभौतिकसंस्था** के साथ समन्वय कीजिए। विश्व में **घट-पट-वन-पर्वत-सूर्य्य-चन्द्रमा** आदि जितने भी पदार्थ हैं, सब **पाञ्चभौतिक हैं**। पाँचों भूतों की मूलजननी वाक् है। वाक् को **आकाश** कहा जाता है। यह वाङ्मय, किंवा वागरूप मर्त्याकाश ही बलग्रन्थि के तारतम्य से **पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश-रूप** में परिणित होरहा है। पाँचों भूत वाङ्मय हैं। वाक् ही पाँचों भूतों की उक्थ (मूलप्रभव) है। यह वाक्तत्त्व प्राण और मन से अविनाभूत है। मनःप्राण को गर्भ में रखने वाला तत्त्व ही वाक् है, जैसा कि वाक् नाम से ही स्पष्ट है। जो तत्त्व अपनी स्वरूपरक्षा के लिए मनः प्राण की याञ्चा करता है, अपेक्षा रखता है, वह मर्त्यतत्त्व ही वाक् कहलाता है। शब्दब्रह्मविद्या के संकेतानुसार शब्दसृष्टि में असंग (कण्ठताल्वादि से असंस्पृष्ट) **अकार** मन का वाचक है। स्पृष्टास्पृष्ट **उकार** प्राण

का वाचक है । इस क्रम से 'अ-उ-अच्' यह स्थिति होजाती है । मन स्वयं निष्क्रियहै, क्रिया प्राण का धर्म्म है । प्राण के सञ्चालन से मन में क्रिया का सञ्चालन होता है । अतः मन की अपेक्षा प्राणका प्राथम्य सिद्ध होजाता है । ऐसी स्थिति में आर को "मनः-प्राण" यह क्रम न रख कर "प्राण-मन" यह क्रम रखना पड़ेगा । फलतः 'अ-(मन)-उ-(प्राण-अच्') इस क्रम के स्थान में-"उ-(प्राण)-अ-(मन)-अच्"यहस्थिति होजाती है । 'उ-अ-अच्" इस स्थिति में उकार को वकाररूप यणादेश होजाता है। "व-अ-अच्" यह स्थिति होजाती है। वकार अकार में जा मिलता है। वकार के अकार के, और अच् के अकार के आकाररूपा दीर्घसन्धि होजाती है। वकार को कुत्व होजाता है। इसप्रकार उ-अ-अच् के यण-दीर्घ-कुत्व से "वाक्" शब्द निष्पन्न हो जाता है । इस का अर्थ होता है- **प्राण-मन की याञ्चा** करने वाला तत्व । **"उश्च-अश्च इति वः, तमञ्चति, इति वाक्'** वाक् शब्द का यही निर्वचन है ।

इससे प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, जिसे हम वाक् कहते हैं, वह मनः प्राण-वाक् की समष्टि है । इन तीनों में से वाक्तत्त्व जहाँ पूर्वकथनानुसार सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों का **उक्थ** (उत्पत्तिस्थान) बनता है, वहाँ वागविनाभूत प्राणतत्त्व सब भूतों की प्रतिष्ठा बनता है । प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि, जबतक वाङ्मय भूत में प्राण प्रतिष्ठित रहता है, तभीतक वह भौतिक पदार्थ स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । प्राण विधर्त्ता है । चरकूट को एकसूत्र में बद्ध रखना इसी विधर्ता प्राण का काम है । जब वस्तु जीर्ण-शीर्ण होजाती है, तो हम उस के लिए **"अरे ! इस में अब प्राण (दम) नहीं रहा"** यह कहने लगते हैं। फलतः प्राण का प्रतिष्ठाभूमित्त्व सर्वात्मना सिद्ध होजाता है। तीसरा है मनस्तत्त्व । यह मन एक अखण्ड धरातल है, आकाशात्मा है- **"मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यमाकाशात्मा'** । यही सब का अवसानस्थान है, परायणभूमि है । इस दृष्टि से भी इसे भौतिक पदार्थों का साम कहा जा सकता है। एवं यह आकाशवत् सब में समान है, इसलिए भी इसे साम माना जासकता है । यह है प्राकृतिक स्थिति । उक्थ ही महोक्थ है, यही ऋक् है । फलतः भूतोक्थमयी वाक् का ऋक्त्व सिद्ध होजाता है । ब्रह्म ही पुरुष है, यही यजुः है । फलतः भूतों के ब्रह्मरूप प्राण का यजुष्ट्व सिद्ध होजाता है । साम ही महाव्रत है, यही साम है फलतः भूतों के सामरूप मन का साममयत्त्व सिद्ध होजाता है । इन तीन विभागों से कहीं पृथक् पृथक् तीन आत्मा नहीं समझ लेने चाहिए । एक ही आत्मा के **मनः-प्राण-वाक्**, ये तीन रूप हैं । दूसरे शब्दों में-तीनों व्यास-व्यवत्या एक आत्मा है —**"आत्मा उ एकः सन्ने तत् त्रयं, त्रयं सदेकमयमात्मा"** । वही आत्मा वाग-वच्छेदेन सम्पूर्ण भूतों का उक्थस्थान बनता हुआ ऋक् है । वही आत्मा प्राणावच्छेदेन सम्पूर्ण भूतों का ब्रह्मस्थान बनता हुआ यजुः है । एवं वही आत्मा मनोऽवच्छेदेन सम्पूर्ण भूतों का सामस्थान बनता हुआ साम है। वही उक्थ है, वही ब्रह्म है, वही साम है। उक्थब्रह्मसामलक्षण, वाक्-प्राण-मनोमय, विश्वव्यापक, नित्यतत्त्व ही इन अनित्य भूतों का आत्मा है ।

१—उक्थम्—वाक्—महोक्थम्——ऋक्	**—स एस वेदमूर्त्तिरात्मा सर्वेषां भूतानाम् ।**
१—२—ब्रह्म——प्राणः—पुरुषः————यजुः	
३—साम——मनः——महाव्रतम्————साम	

* * * *

ऋङ्मूर्त्ति उक्थ मन, यजुर्मूर्त्ति ब्रह्म प्राण, एवं साममूर्त्ति साम मन, तीनों हीं त्रिवृद्भावापन्न हैं। त्रिवृद्भावापन्न आत्मा के इन तीनों अमृतभावों से क्रमशः रूप--कर्म्म--नाम, इन तीन मर्त्यभावों का उदय होता है। त्रिवृत्--मन रूपों का प्रवर्त्तक है, त्रिवृत्प्राण कर्म्मों का प्रवर्त्तक है, एवं त्रिवृत्ता वाक् नामों की अधिष्ठात्री है। इतना ध्यान रखिए कि, उक्थ सदा वाक् ही होती है, ब्रह्म सदा प्राण ही होता है, एवं साम सदा मन ही होता है। प्रत्येक पदार्थ नाम-रूप-कर्म्म की समष्टि है। प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई नाम है, प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई रूप (आकाररूप और वर्णरूप) है, एवं प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई कर्म्म है। क्रियासञ्चार का ही नाम कर्म्म है। "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत" इस विज्ञानसिद्धान्त के अनुसार नामरूपात्मक कोई भी पदार्थ किसी भी क्षण में निष्क्रिय नहीं है। परिवर्त्तनरूपा क्षणिक-क्रिया निरन्तर होती रहती है। इसी क्रिया के "जायते--अस्ति--विपरिणमते-वर्द्धते--अपक्षीयते--विनश्यति" ये ६ भावविकार माने जाते हैं। षड्भावविकारापन्ना इस कर्म्मात्मिका क्रिया से ही तत्तत् पदार्थों की अवस्थाओं में परिवर्त्तन हुआ करता है।

नामरूपकर्म्ममय मर्त्य पदार्थ की आधारभूमि केन्द्रस्थ मनःप्राणवाङ्मय अन्तर्य्यामी ही है। तीनों नाम एक स्वतन्त्र प्रपञ्च है, कर्म्म एक स्वतन्त्र प्रपञ्च है, एवं रूप एक स्वतन्त्र प्रपञ्च है। तीनों अविनाभूत हैं। मनःप्राण को गर्भ में रखने वाली वाक् नामप्रपञ्च की उक्थ-ब्रह्म-साम है, वाक्-मन को गर्भ में रखने वाला प्राण कर्म्मप्रपञ्च का उक्थ-ब्रह्म-साम है, एवं वाक्-प्राण को गर्भ में रखने वाला मन रूपप्रपञ्च का उक्थ-ब्रह्म साम है। जितने भी रूप हैं, उन सब का वाङ्मय मन उक्थ है, प्राणमय मन ब्रह्म है, मनोमय मन साम है। इसप्रकार मन ही रूपों का उक्थ-ब्रह्म-साम बनता हुआ रूपों का उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण आत्मा है। जितने भी कर्म्म हैं, उन सबका वाङ्मय प्राण उक्थ है, प्राणमय प्राण ब्रह्म है, मनोमय प्राण साम है। इसप्रकार प्राण ही कर्म्मों का उक्थ-ब्रह्म-साम बनता हुआ कर्म्मों का उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण आत्मा है। जितने भी नाम हैं, उन सब का उक्थ वाङ्मयी वाक् है, प्राणमयी वाक् ब्रह्म है, मनोमयी वाक् साम है। इसप्रकार वाक् हीं उक्थ-ब्रह्म-साम बनती हुई नामों की उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण आत्मा है। वह सब त्रिवृद्भाव का वितानमात्र है। वितानात्मक त्रिवृद्भाव से ही आत्मा की तीनों कलाएँ त्रिवृता बनतीं हुईं (प्रत्येक कला) तीनों वेदों से युक्त होजातीं हैं, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट होजाता है—

१-मनःप्राणगर्भिता वाक् में उक्थ-ब्रह्म-साम-भेद से तीनों वेदों का उपभोग—

१—वागेव वाग्भावेन नाम्नामुक्थम् (वाक्)—वाङ्मयी वाक्-महदुक्थम्—ऋक्	१ (महदुक्थम्) वाक्--ऋक्
२—वागेव प्राणभावेन नाम्नां ब्रह्म (प्राणः)—प्राणमयी वाक्—पुरुषः —यजुः	
३—वागेव मनोभावेन नाम्नां साम (मनः)—मनोमयी वाक्—महाव्रतम्—साम	

——*——

२–मनोवाग्गर्भित प्राण में उक्थ' ब्रह्म-साम--भेद से तीनों वेदों का उपभोग—

१—प्राण एव वाग्भागेन कर्म्मणामुक्थम् (वाक्)–प्राणमयी वाक्–महदुक्थम्–ऋक्		
२—प्राण एव प्राणभागेन कर्म्मणां ब्रह्म (प्राणः)–प्राणमयः प्राणः-पुरुषः—- -यजुः	}	२ (पुरुषः) प्राणः--यजुः
३—प्राण एव मनोभागेन कर्म्मणां साम (मनः)–प्राणमयं मनः-महाव्रतम्-—साम		

* * *

३–वाग्गर्भित मन में उक्थ-ब्रह्म-साम-भेद से तीनों वेदों का उपभोग—

१—मन एव वाग्भागेन रूपाणामुक्थम् (वाक्)–मनोमयी वाक्–महदुक्थम्-ऋक्		
२—मन एव प्राणभागेन रूपाणां ब्रह्म (प्राणः)–मनोमयः प्राणः—-पुरुषः–यजुः	}	३ (महाव्रतम्) मनः--साम
३—मन एव मनोभागेन रूपाणां साम (मनः)–मनोमयं मनः–महाव्रतम्–साम		

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
उक्थ-ब्रह्म-साम-मयी-वेदनिरुक्तिः

५

—*—

श्रीः

इति-वैज्ञानिकवैदनिरुक्तौ

उक्थ-ब्रह्म-साम-मयी—वेदनिरुक्तिः

५

———*———

श्रीः

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
आत्म-ज्योति-प्रतिष्ठा-लक्षणा-वेदनिरुक्तिः

६

———*———

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

आत्मा–ज्योतिः-प्रतिष्ठा-लक्षणा वेदनिरुक्तिः

६

मूलवेद--प्रकरण का आरम्भ करते हुए हमने आत्मा को **सच्चिदानन्दघन** बतलाया है। इस आत्मा के अतिरिक्त सृष्टिसाक्षी आत्मा को **मनःप्राणवाङ्मय** कहा है। साथ ही में मन को **ज्ञानशक्तिमय**, प्राण को **क्रियाशक्तिमय**, एवं वाक् को **अर्थशक्तिमयी** बतलाया है। सृष्टिसाक्षी आत्मा के इन तीनों पर्वों में क्रमशः **आनन्द--विज्ञान-सत्ता** इन तीनों पर्वों का विकास रहता है। नामरूपकर्मात्मक पदार्थ ही अर्थप्रपञ्च है। इस अर्थ, किंवा पदार्थ के आधार पर सत्तातत्त्व विकसित रहता है। घटोऽस्ति, पटोऽस्ति, इत्यादि वाक्यों में घट-पट आदि पदार्थ नामरूपकर्मात्मक हैं, अस्तिभाग सत्ता है। मनः-प्राण-वाक् की समष्टि ही तो **'सत्ता'** है। इस सत्ता के [1]**मनोभाग**, [2]**प्राणभाग**, [3]वाग्भाग से ही तो अर्थ का [1]रूपभाग, [2]**कर्म्मभाग**--[3]**नामभाग** अनुगृहीत रहता है। सत्ता के (अस्तित्त्व के) आश्रय से ही नामरूप-कर्म्मात्मक पदार्थों का अभिनय होता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, आत्मा के सत्ताभाग का सृष्टिसाक्षी आत्मा के अर्थरूप वाग्भाग (त्रिवृद्वाग्भाग) पर ही विकास होता है। दूसरा पर्व है त्रिवृत्प्राण। यह क्रियाशक्तिमय है। यही प्राणभाग चेतना की विकासभूमि है। तीसरा त्रिवृत् मन है। यह ज्ञानशक्तिमय है। यही मनोभाग आनन्द की विकास--भूमि है। ज्ञान से ही आनन्द विकसित होता है।

प्रकारान्तर से यों समझिए कि-प्रत्येक ज्ञान में **प्रज्ञा--प्राण--भूत**-इन तीन मात्राओं का समावेश रहता है, जैसा कि आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रज्ञा मन है, प्राण प्राण है, भूत वाक् है। इन में वाक् विषय है, प्राण इन्द्रियवृत्ति है, मन इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञान है। विषय सत्ता से अनुगृहीत है, इन्द्रियवृत्ति चेतना से अनुगृहीत है, प्रज्ञान आनन्द से अनुगृहीत है। इसी आधार पर मन को आनन्दात्मक कह सकते हैं, प्राण को चेतनात्मक कह सकते हैं, एवं वाक् को सत्तात्मिका कहा जासकता है।

यद्यपि आनन्द-चेतना-सत्ता, मनः-प्राण-वाक्, ये सभी आत्मविवर्त्त हैं। फिर भी **"रसो ह्येव सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"** इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार रसरूप (रसप्रधान) आनन्द को ही हम मुख्य आत्मा कहेंगे-**आनन्दमयोऽभ्यासात्'** (शा० सू० १।१।१२)। इस आनन्द की विकासभूमि ज्ञानशक्तिमय मन ही है। ऐसी दशा में हम आनन्दात्मक ज्ञानमूर्त्ति इस मन को आत्मा कह सकते हैं। वेदतत्त्वमीमांसासम्मता परिभाषा के अनुसार आनन्दात्मक इस मनोमय आत्मा को ही **"रसवेद"** कहा जाता है। इसी के रहन (प्रस्रवण) से आगे के सम्पूर्ण विवर्त्तों का विकास हुआ है। आनन्दात्मक

मनोमय आत्मा की मात्रा ले ले कर ही सब उपजीवित हैं। चेतनात्मक क्रियाशक्तिघन प्राण, एवं सत्तात्मिका अर्थशक्तिघना वाक् इस आत्मा की ही विभूतियाँ हैं। चेतना ज्योति है, प्रकाश है। तद्युक्त प्राणविभूति को भी हम चेतनाविकासभूमि के कारण **ज्योति** कह सकते हैं। सत्ता प्रतिष्ठातत्त्व है। **'अस्ति'** यही तो प्रतिष्ठा है। अस्तित्त्व का मिटना ही तो प्रतिष्ठा का उखड़ना कहलाता है। इसप्रकार आनन्दात्मक मनोमय आत्मा, चेतनात्मिका प्राणमयी ज्योति, सत्तात्मिका वाङ्मयी प्रतिष्ठा के भेद से एक ही आत्मा के तीन विवर्त्त हो-जाते हैं।

मूर्त्ति को **छन्दोवेद** कहा जाता है, मण्डल को **वितानवेद** कहा जाता है, एवं जिस मौलिकतत्त्व की मूर्त्ति एवं मण्डल होता है, उसे **रसवेद** कहा जाता है। रसवेद **यजुर्वेद** है, वितानवेद **सामवेद** है, छन्दोवेद **ऋग्वेद** है। इन तीनों का आगे विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में हमें केवल यही कहना है कि, रसस्थानीय पूर्वोक्त आत्मा रसरूप होने से **'यजुर्वेद'** है। ज्योति का ही वितान होता है। यही मण्डल में परिणत होती है। अतः आत्मा की इस ज्योतिर्विभूति को हम **सामवेद** कह सकते हैं। प्रतिष्ठा ही मूर्त्ति की स्वरूपसम्पादिका है। मूर्त्ति ही ऋग्वेद है। फलतः आत्मा की इस प्रतिष्ठाविभूति का **ऋग्वेदत्त्व** सिद्ध होजाता है। इसप्रकार आत्मा–ज्योति–प्रतिष्ठा के भेद से विभूतियुक्त आत्मा में तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है।

१–आनन्दः--ज्ञानशक्तिमयं मनः (आनन्दविकासभूमिः)।

२–चेतना—क्रियाशक्तिमयः प्राणः (चेतनाविकासभूमिः)।

३–सत्ता------अर्थशक्तिमयी वाक् (सत्ताविकासभूमिः)।

* * * *

१–आनन्दात्मको मनोमय आत्मा--**आत्मा**

२–चेतनात्मकः प्राणमय आत्मा--**ज्योतिः**

३–सत्तात्मको वाङ्मय आत्मा--**प्रतिष्ठा**

* * * *

१–आनन्दात्मको मनोमय आत्मा--आत्मा---(आत्मदेवः---रसवेदः)--यजुर्वेदः

२–चेतनात्मकः प्राणमय आत्मा--ज्योतिः---(ज्योतिर्वेदः-वितानवेदः)-सामवेदः

३–सत्तात्मको वाङ्मय आत्मा--प्रतिष्ठा–(प्रतिष्ठावेदः-छन्दोवेदः)-ऋग्वेदः

* * * *

पाठक यह न भूले होंगे कि, आत्मकलारूप मनः-प्राण-वाक् तीनों ही त्रिवृद्भावापन्न हैं । अर्थात् मनोमय आत्मा भी मनःप्राणवाङ्मय है, प्राणमय आत्मा भी मनःप्राणवाङ्मय है, एवं वाङ्मय आत्मा भी मनः-प्राणवाङ्मय है । इसी त्रिवृद्भाव के कारण आत्मलक्षण यजुर्वेद, ज्योतिर्लक्षण सामवेद, प्रतिष्ठालक्षण ऋग्वेद, इन तीनों वेदों का उपभोग होजाता है । इन तीनों विवर्त्तों का **'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य-द्वितीयखण्ड** के **'त्रयीवेदनिरुक्ति'** प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है । विशेष जिज्ञासुओं को वही प्रकरण देखना चाहिए-(देखिए ई० उ० वि० भा० द्वि० ख० पृष्ठ से ३० पर्य्यन्त) । यहाँ प्रकरणसङ्गति के लिए इन वेदविवर्त्तों का नामोल्लेखमात्र कर दिया जाता है ।

१-आत्मवेदः (यजुर्वेदः)-

आनन्दात्मक मनोमय तत्त्व को आत्मा कहा गया है । आनन्दगर्भित यह मनोमय आत्मा त्रिवृद्भाव के कारण मनः-प्राण-वाङ्मय है । ये ही तीनों आत्मविवर्त्त भौतिक विश्व के उक्थ-ब्रह्म-साम हैं । मनोमयी वाक् उक्थ है, मनोमय प्राण ब्रह्म है, मनोमय मन साम है । आत्मा का यह उक्थभाग ऋक् है, ब्रह्मभाग यजुः है, सामभाग साम है । उपनिषद्भाष्य में हमने वाक् को साम माना है, प्राण को ब्रह्म माना है, मन को उक्थ माना है । एवं प्रकृत में वाक् को उक्थ, एवं मन को साम बतलाया जारहा है । इस में विरोध नहीं समझना चाहिए । वहाँ नामरूपकर्म्म की प्रधानता है, यहाँ ज्ञानमय आनन्द की प्रधानता है । नामरूपकर्म्म में नाम वाङ्मय है, इसी पर रूपकर्म्म का अवसान है । इसीलिए वहाँ वाक् को साम बतलाया गया है । यहाँ आनन्द ही अवसान है । मन आनन्दमय है, इस लिए यहाँ आनन्द ही अवसान है । मन आनन्दमय है, इसलिए यहाँ आनन्दमय मन को साम कहा गया है । कहना यही है कि, उक्थ-ब्रह्म-साम-रूप से केवल आनन्दात्मक (त्रिवृत्) मनोमय यजुर्वेदमूर्त्ति आत्मवेद में हीं तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है, जैसाकि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है—

१-तदित्थं आनन्दात्मके मनोमये आत्मलक्षणे यजुर्वेदे मनसस्त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः ।

१-आनन्दगर्भिता मनोमयी वाक्-उक्थम्-ऋग्वेदः	१ आत्मवेदत्रयी-मनोमयी-मनः
२-आनन्दगर्भितो मनोमयः प्राण--ब्रह्म--यजुर्वेदः	
३-आनन्दगर्भितं मनोमयं मनः-साम--सामवेदः	

* * * *

२-प्रतिष्ठावेदः (ऋग्वेदः)-

सत्तात्मक त्रिवृत्-वाक्प्रपञ्च ही प्रतिष्ठारूप ऋग्वेद है । वाक् से ही सम्पूर्ण भूतों का उत्थान होता है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है । यह सत्तात्मिका वाक्, किंवा वाङ्मयी सत्ता मनः-प्राण-वाक् के समन्वय से तीन भागों में विभक्त है । मनोमयी सत्ता **आत्मधृति** कहलाती है, प्राणमयी सत्ता **असतोधृति**

कहलाती है, एवं वाङ्मयी सत्ता **सतोधृति** कहलाती है। प्रत्येक पदार्थ अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। यही तत्तत् पदार्थ की **सत्ता** (स्वभाव-स्वसत्ता) है। जबतक स्वसत्ता है, तभीतक पदाथ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। यही स्वसत्ता आत्मधृति है। सत्ताशून्य पदार्थ अन्य की सत्ता लेकर सत् बन जाता है। पहिले घट सर्वथा असत् था। परन्तु आज वही मृत्सत्ता को लेकर सद्वत् बन गया है। मिट्टी से सत् घट में आने वाली यही सत्ता असतोधृति है। यह प्राणमयी है। पुस्तक मेज पर, मनुष्य पृथिवी पर, वस्त्र शरीर पर प्रतिष्ठित है। मेज-पृथ्वी-शरीर की प्रतिष्ठा से पुस्तक, मनुष्य-वस्त्र प्रतिष्ठित हैं। यही परसत्ता है। सत् पदार्थ ने अन्य सत्पदार्थ की सता का अनुग्रह प्राप्त कर रक्खा है। यही सतोधृति है। यह वाङ्यमयी है। आमधृति ऋग्वेद है, असतोधृति यजुर्वेद है, एवं सतोधृति सामवेद है। इसप्रकार इन तीन धृतियों के भेद से ऋग्वेद-मूर्ति पतिष्ठावेद में ही तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट है—

२-तदित्थं सत्तात्मके वाङ्मये प्रतिष्ठालक्षणे ऋग्वेदे वाचस्त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः

१–सत्तागर्भितः-वाङ्मयं मनः-आत्मधृतिः--ऋग्वेदः

२–सत्ता-गर्भितः–वाङ्मयः प्राणः-असतोधृतिः-यजुर्वेदः } -प्रतिष्ठावेदत्रयी-वाङ्मयी-वाक् २

३–सत्ता-गर्भिता वाङ्मयी बाक्-सतोधृतिः-सामवेदः

* * * *

३-ज्योतिर्वेदः (सामवेदः)—

चेतनात्मक त्रिवृत्--प्राणप्रपञ्च ही ज्योतिःस्वरूप सामवेद है। **"सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्"** (तै०ब्रा० ३।१२।६) का यही तात्पर्य्य है। प्राण के त्रिवृत्करण से इस ज्योति के भी तीन विवर्त्त होजाते हैं। वे ही तीनों ज्योतियाँ क्रमशः **ज्ञानज्योति, भूतज्योति, सत्यज्योति** नामों से प्रसिद्ध हैं। मनोमयी-ज्योति ज्ञानज्योति है, यही आत्मज्योति है। प्राणमयी ज्योति भूतज्योति है। यह **सूर्य्य-चन्द्र-विद्युत्-नक्षत्र-अग्नि** भेद से पाँच भागों में विभक्त है। **"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्"** (मुण्डक० २।२।१०) के अनुसार ज्ञानज्योति से ही यह भूतज्योति प्रकाशित रहती है, अत एव आत्मलक्षणा मनोमयी ज्ञानज्योति को "ज्योतिषां ज्योतिः" नाम से भी व्यवहृत किया गया है-**"तच्चक्षुर्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्"**। वाङ्मयी ज्योति सत्यज्योति है। यह नाम--रूप--भेद से दो भागों में विभक्त है। नाम से भाति (ज्ञान) का उदय होता है। नाम-रूप के आधार पर ही तत्तद्विषय हमारी प्रतीति के विषय बनते हैं। यही इस का ज्योतिर्भाव है। **"नामरूपे सत्यम्"** (शत० १४।४ ४ ३) के अनुसार नाम-रूप की समष्टि **सत्य** नाम से व्यवहृत हुई है। अतः हम इस ज्योति को अवश्य ही "सत्यज्योति" नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। याज्ञवल्क्यने इन तीनों ज्योतियों को पाँच भागों में विभक्त मान कर पुरुष को पञ्चज्योति माना है। याज्ञवल्क्योक्त वे पाँचों ज्योतियाँ **सूर्य्य-चन्द्र--अग्नि--वाक् आत्मा**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन में सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि, ये तीनों भूतज्योतियाँ, हैं, वाक् सत्यज्योति है, आत्मा ज्ञानज्योति है--(देखिए शत० १४।६।१ १।६)। मनोमयी ज्ञानज्योति ऋग्वेद है, प्राणमयी भूतज्योति यजुर्वेद है, एवं वाङ्मयी सत्यज्योति सामवेद है। इस प्रकार तीन ज्योतियों के भेद से सामवेदमूर्त्ति ज्योतिर्वेद में ही इन तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट है--

३–तदित्थं चेतनात्मके प्राणमये ज्योतिर्लक्षणे सामवेदे प्राणस्य त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः।

१–चेतनागर्भितं प्राणमयं मनः–ज्ञानज्योतिः–ऋग्वेदः
२–चेतनागर्भितः प्राणमयः प्राणः-भूतज्योतिः–यजुर्वेदः } —ज्योतिर्वेदत्रयी प्राणमयी–प्राणः ३
३–चेतनागर्भिता प्राणमयी वाक्-सत्यज्योतिः–सामवेदः

आत्म-ज्योति-प्रष्ठिा-लक्षण उक्त आत्मवेद का सच्चिदानन्दरूप मूलवेद में ही अन्तर्भाव होजाता है। प्रष्ठिा सत्ता है, ज्योति चेतना है, आत्मा आनन्द है। यही तीन रूपों से सर्वत्र सबकुछ बन कर व्याप्त हो-रहा है।

* * * *

१—आत्मवेदः.......आनन्दः.....आनन्दः--यजुर्वेदः
१ २—प्रतिष्ठावेदः.........सत्ता......सत्......ऋग्वेदः } —सच्चिादानन्दमूर्त्तिवेदः
३—ज्योतिर्वेदः.......चेतना-......चित्....सामवेदः

* * * *

१–उक्थम्.........:उक्थवेदः..... ....ऋग्वेदः
३ १ आनन्दः २–ब्रह्म...........ब्रह्मवेदः-... ....यजुर्वेदः } —आत्मवेदो वेदत्रयात्मकः–यजुर्वेदः १
३–सामः............सामवेदः–.. ....सामवेदः

* * * *

१–आत्मा.......आत्मधृतिवेदः..........ऋग्वेदः
२ सत्ता २–धृतिः.......असतोधृतिवेदः-..........यजुर्वेदः } –प्रतिष्ठावेदो वेदत्रयात्मकः-ऋग्वेदः २
३–विधृतिः......सतोधृतिवेदः–....... सामवेदः

* * * *

१–आत्मा...ज्ञानज्योतिर्वेदः-....ऋग्वेदः

३ ——*—— ३

चेतना २–भूतानि....भूतज्योतिर्वेदः–....यजुर्वेदः } –ज्योतिर्वेदो-वेदत्रयात्मकः--सामवेदः

३–नामरूपे....सत्यज्योतिर्वेदः-....सामवेदः

* * * *

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ आत्म–ज्योति–प्रतिष्ठा–लक्षणा–वेदनिरुक्तिः

६

——*——

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

आत्म–ज्योति–प्रतिष्ठा–लक्षणा–वेदनिरुक्तिः

६

श्रीः

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
'उपलब्धि-लक्षणा-वेदनिरुक्तिः

७

श्री:

अथ—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ—

'उपलब्धि'-लक्षणा-वेदनिरुक्तिः

७

पूर्व में आत्मा-प्रतिष्ठा-ज्योतिर्लक्षण जिस आत्मवेद का दिग्दर्शन कराया गया है, वह **ईश्वर-जीव-जगत्**, इन तीन विवर्त्तों में विभक्त है। दूसरे शब्दों में--ईश्वर भी सच्चिदानन्दमूर्त्ति है, जीव भी सच्चिदानन्दमूर्त्ति है, एवं विश्व भी सच्चिदानन्दमूर्त्ति है। तीनों संस्थाएँ हीं क्रमशः **आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक** नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों संस्थाओं के तीनों वेदों में केवल आत्म-प्रतिष्ठा-ज्योति का तारतम्य है। आधिदैविकसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले ईश्वरीय वेद में आनन्दलक्षण आत्मवेद प्रधान है, चेतना एवं सत्ता-लक्षण ज्योतिर्वेद, तथा प्रतिष्ठावेद गौण हैं। आध्यात्मिकसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले जीववेद में चेतनालक्षण ज्योतिर्वेद प्रधान है, आनन्द, एवं सत्ता लक्षण आत्मवेद और प्रतिष्ठावेद गौण है। आधिभौतिकसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले विश्ववेद में सत्तालक्षण प्रतिष्ठावेद प्रधान है। आनन्द एवं चेतनालक्षण आत्मवेद और ज्योतिर्वेद गौण हैं। ईश्वर आनन्दमूर्त्ति है, आत्मवेदमूर्त्ति है। जीव चिन्मूर्त्ति है, ज्योतिर्वेदमूर्त्ति है। विश्व सन्मूर्त्ति है, प्रतिष्ठावेदमूर्त्ति हैं। ये ही तीनों संस्थाएँ क्रमशः **अस्ति-भाति-प्रिय** नाम से प्रसिद्ध हैं। वही अस्ति है, वही भाति है, वही प्रिय है।। उसी की अस्ति है, उसीकी भाति है, उसी का प्रिय है। इन तीनों की समष्टि ही **उपलब्धिरूप आत्मलक्षण वेद है।**

वस्तु की प्राप्ति को ही उपलब्धि कहा जाता है। इस उपलब्धि में **अस्ति-भाति-प्रिय** इन तीनों का समन्वय है। इस उपलब्धि का मुख्य आधार सत्तालक्षण प्रतिष्ठावेद है। दूसरे शब्दों में-हमें प्रत्येक पदार्थ की अस्तिरूप से ही उपलब्धि होती है। नामरूपात्मक घट-पटादि पदार्थ अस्तिमान् हैं। ये ही उपलब्धि के विषय बनते हैं। पदार्थ हैं, इसीलिए तो इन की उपलब्धि होती है। शशशृङ्गादि की उपलब्धि क्यों नहीं होती?, उनकी सत्ता नहीं, अस्तित्व नहीं, 'यदि स्यादुपलभ्येत"। अस्ति की उपलब्धि क्या होती है, अस्ति ही उपलब्ध होती है। उपलब्धि और अस्ति को पृथक् नहीं किया जासकता। **"घटोऽस्ति"** यही तो हमारी उपलब्धि का अभिनय है। घट है, यही तो हम जानते हैं। अर्थात् हमारा ज्ञान **"घटोऽस्ति"** इस आकार से आकारित बनकर ही तो घटोपलब्धि का अभिमान करता है। यदि ज्ञान में से अस्ति निकाल दिया जाय, तो घटोपलब्धि का कोई स्वरूप ही न रहे। अस्ति. एवं उपलब्धि के इसी तादात्म्यभाव का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १ ॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ २ ॥

—कठ० ६। २-१ ३।

नामरूपानुग्राहिणी यह अस्ति ही उपलब्धि का पहिला पर्व है। यही प्रतिष्ठालक्षण ऋग्वेद है। घट है, उसे हम जानते हैं, यह ज्ञानज्योति ही चेतना है। चेतना **ज्योतिर्वेद** है। जो वस्तु है, एवं जिसे हम जानते हैं, किंवा जिस का हमें ज्ञान होता है, सत्ता एवं ज्ञान का प्रतिष्ठारूप वही तत्त्व **"रस"** है। रस की सत्ता है, रस का ज्ञान है। रस ही प्रिय है, यही आत्मा है, यही आनन्दलक्षण **आत्मवेद** है। आनन्द उपलब्धि का मुख्य पर्व है। जबतक वस्तुसत्ता, एवं वस्तुज्ञान से आनन्द नहीं आता, तबतक वह उपलब्धि कोई मूल्य नहीं रखती। आनन्द ही हमें प्रिय है। तभी तो दार्शनिक लोग इसे **"प्रिय"** नाम से सम्बोधित करते हैं। इसीलिए हम इसे उपलब्धि का मुख्य पर्व मानते हैं। इस मुख्योपलब्धि का आधार चेतनामय ज्ञान है। विद्यमान वस्तु भी बिना ज्ञान के आनन्दोपलब्धि का कारण नहीं बन सकती। इस ज्ञान की भी आधारभूमि सत्ता ही है। यदि वस्तु न हो तो ज्ञान किस का हो ?।

इसप्रकार इस दृष्टि से तो सत्ता सर्वमुख्य है, एवं उपलब्धि की दृष्टि से आनन्द सर्वमुख्य है। इसप्रकार सत्तोपलब्धि, चेतनोपलब्धि, एवं आनन्दोपलब्धि तीनों के समन्वय से ही उपलब्धि का उदय होता है। यही वेदत्रयीरूपा वेदोपलब्धि है। इतना स्मरण रखना चाहिए कि, इस उपलब्धिवेद की मूलप्रष्ठिा नामरूपात्मक भौतिकभाग ही है। घटोऽस्ति में से यदि आप नामरूपकर्मात्मक भूतभाग पृथक् कर देंगे, तो वह विशुद्ध सत्ता सामान्यभाव में परिणत होती हुई, अतएव व्यापक एवं निराकार बनती हुई प्रतीतिलक्षणा उपलब्धिमर्यादा से बाहिर निकल जायगी। व्यापकसत्ता को उपलब्धिरूप में परिणत करना एकमात्र परिच्छिन्न मृत्युरूप साकार नामरूपकर्म्मात्मक भौतिक प्रपञ्च का ही काम है। यही अवस्था ज्ञान (विषयज्ञान) एवं आनन्द (विषयानन्द) की है। बिना भौतिकविषय के ज्ञान भी निर्विकल्पक, अतएव व्यापक निराकार बनता हुआ उपलब्धि से बाहिर हो जाता है। एवं भौतिक-विषय के बिना आनन्द भी नित्यानन्द बनता हुआ, शान्त रूप में परिणत होता हुआ उपलब्धि का विषय नहीं बन सकता।

ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि, आनन्दोपलब्धिरूप आत्मलक्षण यजुर्वेद, चेतनोपलब्धिरूप ज्योतिर्लक्षण सामवेद, सत्तोपलब्धिरूप प्रतिष्ठा-लक्षण ऋग्वेद, ये तीनों हीं उपलब्धिवेद भौतिकपदार्थ के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, आप उपलब्धिवेद को जब भी देखेंगे, भूत के आधार पर ही देखेंगे। उपलब्धिवेद का मूलाधार अस्ति बतलाया गया है। मनः-प्राण-वाक् की समष्टि ही ही अस्ति है। यह अस्ति का अमृतरूप है, नित्यरूप है। मन से रूप, प्राण से कर्म्म, वाक् से नामात्मक मर्त्यभूत का उदय होता है। नामरूपकर्म्म की समष्टि ही भौतिकभाग है। यही उस अस्ति का मर्त्य, अनित्यरूप है, यह मर्त्य अस्ति (भूत) अमृत अस्ति की प्रतिष्ठा है, अमृत अस्ति चेतना की प्रतिष्ठा है, यही अस्ति आनन्द की प्रतिष्ठा है। इसी उपलब्धिवेदरहस्य को लक्ष्य में रखकर वेदभगवान् कहते हैं--

"स त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत् । एतद् वा अस्ति । एतद्धि-अमृ-तम् । एतदु तत्-यन्मर्त्यम् । त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतनि (प्रतिष्ठितानि)" । (शत० १०।६।२।) इति ।

सत्तोपलब्धिवेद 'विद्यते इति वेदः" इस निर्व्वचन से वेद कहलाता है । यही इसका सत्ताप्रधान निर्वचन है । चेतनोपलब्धिवेद "वेत्ति-इति वेदः" इस निर्वचन से वेद है । यही चेतनाप्रधान (ज्ञानप्रधान भातिप्रधान) निर्वचन है । आनन्दोपलब्धिवेद "विन्दति-इति वेदः" इस निर्वचन से वेद है । यही इसका आनन्दप्रधान (रसप्रधान-प्रियप्रधान-लाभप्रधान) निर्वचन है । सत्तार्थक विद् धातु का "विद्यते" से सम्बन्ध है । यह ऋग्वेद की प्रतिष्ठा है ('विद्' सत्तायाम्) । ज्ञानार्थक विद् धातु का "वेत्ति" से सम्बन्ध है, यह सामवेद की प्रतिष्ठा है ('विद्' ज्ञाने) । लाभार्थक विद् धातु का "विन्दति" से सम्बन्ध है, यह यजुर्वेद की प्रतिष्ठा है ('विद्लृ' लाभे) । इन तीनों भावों के कारण ही तो उपलब्धितत्त्व "वेद" कहलाया है । सत्ता भी वेद है, ज्ञान भी वेद है, आनन्द भी वेद है । सम्पूर्ण विश्व वेदमूर्त्ति है, सम्पूर्ण जीवप्रपञ्च वेदमूर्त्ति है, स्वयं ईश्वर वेदमूर्त्ति है । वेद से, किंवा वेदात्मक सत्ता-चेतना-आनन्दभावों से अतिरिक्त और है ही क्या !,-"सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति" । (यजुः) ।

१---आधिदैविकवेदः—आनन्दप्रधानो वा आत्मप्रधानः —

	१····आनन्दप्रधानः····आनन्दमयः····आत्ममयो आत्मवेदः-यजुर्म्मयः-यजुर्वेदः	आत्मवेदो-यजुर्वेदः	ईश्वरः
१ आनन्दः	२····आनन्दप्रधानः····चेतनामयः·· आत्मप्रधानो ज्योतिर्वेदः-यजुर्म्मयः सामवेदः		
(आत्मा)	३····आनन्दप्रधानः····सत्तामयः···-आत्मप्रधानः प्रतिष्ठावेदः-यजुर्म्मयः-ऋग्वेदः		

* * * *

२–आध्यात्मिकवेदः-चेतना-प्रधानो वा ज्योतिः-प्रधानः—

	१—चेतनाप्रधानः···आनन्दमयः···ज्योतिःप्रधानः आत्मवेदः-साममयः-यजुर्वेदः	ज्योतिर्वेदः-सामवेदः	जीवः
२ चेतना	२—चेतनाप्रधानः····चेतनामयः···· ज्योतिर्म्मयो ज्योतिर्वेदः-साममयः-सामवेदः		
(ज्योतिः)	३····चेतनाप्रधानः····सत्तामयः ज्योतिप्रधानः-प्रतिष्ठावेदः साममयः-ऋग्वेदः		

* * * *

३–आधिभौतिकवेदः-सत्ताप्रधानो वा प्रतिष्ठा-प्रधानः—

१—सत्ताप्रधानः—आनन्दमयः—प्रतिष्ठाप्रधानः—आत्मवेदः—ऋङ्मयः-यजुर्वेदः	प्रतिष्ठावेदः-ऋग्वेदः	जगत्
२—सत्ताप्रधानः—चेतनामयः—-प्रतिष्ठाप्रधानः—ज्योतिर्वेदः—ऋङ्मयः-सामवेदः		
३—सत्ताप्रधानः—सत्तामयः— —प्रतिष्ठामयः——प्रतिष्ठावेदः—ऋङ्मयः-ऋग्वेदः		

* * * *

१···घटोऽस्ति] सत्तोपलब्धिः (विषयात्मकः····प्रतिष्ठालक्षणः····ऋग्वेदः)

२···तमहं जानामि]··· चेतनोपलब्धिः (वृत्यात्मकः···ज्योतिर्लक्षणः· -सामवेदः)

३···यस्यास्तित्त्वं,
यस्य च ज्ञानं
सोऽयं रसः,
तृप्तिलक्षणो
लाभात्मकः } —आनन्दोपलब्धिः (अन्तकरणात्मकः--आत्मलक्षणः-यजुर्वेदः

} उपलब्धिवेदः

* * * *

१····"विद्यते"···इति वेदः····सत्तोपलब्धिः···ऋग्वेदः-प्रतिष्ठा

२····"वेत्ति"···इति वेदः··चेतनोपलब्धिः--सामवेदः-ज्योतिः

३····"विन्दति"--इति वेदः····आनन्दोपलब्धिः-यजुर्वेदः-आत्मा

} **सैषा उपलब्धिरूपा-वेदत्रयी**

* * * *

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
उपलब्धि–लक्षणा–वेदनिरुक्तिः

७

——— * ———

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ 'उपलब्धि'–लक्षणा–वेदनिरुक्तिः

७

श्रीः

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौः
ब्रह्मेन्द्रविष्णुसहकृता-वेदनिरुक्तिः
सत्यवेदनिरुक्तिर्वा

८

——— ——*—— ———

श्रीः

अथ—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
ब्रह्मेन्द्रविष्णुसहकृता--वेदनिरुक्तिः सत्यवेदनिरुक्तिर्वा

८

———*———

अबतक वेदपदार्थ के सम्बन्ध में जिन ७ विवर्त्तभावों का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया है, उन सब का एकमात्र पञ्चकल अव्ययपुरुष के साथ ही सम्बन्ध समझना चाहिए। पञ्चकल अव्यय ही सच्चिदानन्द कहलाता है। एवं पूर्व के सभी वेदविवर्त्तों का सच्चिदानन्दलक्षण अव्ययपुरुष में हीं अन्तर्भाव है। "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" (गीतायाम्) इस स्मार्त्त–सिद्धान्त के अनुसार अव्यय-पुरुष स्वभावभूता अपनी अन्तरङ्गप्रकृति से सर्वथा अविनाभूत है। इसी स्वभाव (स्व-भाव) के कारण इस अन्तरङ्गप्रकृति को अव्ययात्मा में ही अन्तर्भूत मान लिया जाता है। असीम परात्पर का जो प्रदेश महामाया से सीमित बनता हुआ सकेन्द्र बन जाता है, उसे ही **अव्ययपुरुष** कहा जाने लगता है। माया के उदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही **हृदयभाव** (केन्द्रभाव) उत्पन्न होजाता है। असीम परात्पर में हृदय नहीं था। क्योंकि व्यापक वस्तु में कोई केन्द्र नहीं होसकता। अथवा दूसरे शब्दों में यों कहलीजिए कि, व्यापक वस्तु की प्रतिबिन्दु ही केन्द्र है, वह सभी केन्द्र है। केन्द्ररूप परात्पर में **"सामान्ये सामान्याभावः"** इस नियम के अनुसार केन्द्र नहीं होसकता। इसीलिए वह अहृदय है, अकेन्द्र है। परन्तु मायासीमा से सीमित परात्पर का एक स्वतन्त्र केन्द्र बन जाता है। इसप्रकार माया के साथ साथ ही मायी अव्यय, एवं हृदयबल, दोनों का उदय होजाता है। अव्यय जहाँ पुरुष कहलाता है, वहाँ अव्यय से नित्ययुक्त यह हृदयभाव ही **"प्रकृति"** नाम से व्यवहृत हुआ है। हृदय ही उसका स्वभाव है, अपना भाव है, अपनापन है, आप ही है। जिस दिन प्रकृतिरूप हृदयभाव ग्रन्थिविमोक से विलीन होजायगा, तत्काल मायासीमा टूट जायगी। सीमा के टूटते ही परिच्छिन्न पुरुष (अव्यय) अपरिच्छिन्न परात्पररूप में परिणत होजायगा। 'स्वभाव' शब्दार्थ का यही रहस्य है। अव्ययपुरुष स्वयं रसबलमूर्त्ति है। फलतः तदविनाभूता तन्मयी इस हृदयरूपा प्रकृति में भी दोनों का समन्वय सिद्ध होजाता है। बल मृत्यु है, रस अमृत है। मृत्युगर्भित अमृताव्यय ही आनन्द-विज्ञान-मन है। एवं अमृतगर्भित मृत्युलक्षण अव्यय ही मनःप्राणवाक् है। ये ही दोनों अवस्थाएँ प्रकृति में समझिए। मृत्युगर्भिता अमृतलक्षणा प्रकृति **'पराप्रकृति'** नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही **'अक्षर'** कहा जाता है। एवं अमृतगर्भिता मृत्युलक्षणा प्रकृति **'अपराप्रकृति'** नाम से व्यवहृत हुई है, और यही **'आत्मक्षर'** नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों की समष्टि ही **अन्तरङ्गप्रकृति** है। दोनों में से पहिले परात्मिका अक्षरप्रकृति का ही विचार कीजिए।

प्रकृति को हमने हृदय कहा है। यही हृदयभाव स्वाभाविक प्राणव्यापार के अवस्थाभेद से अपने आलम्बन–पुरुष के अनुग्रह से पाँच कलाओं में परिणत होजाता है। चर की ये ही पाँचों कलाएँ क्रमश: [1]ब्रह्मा-[2]विष्णु-[3]इन्द्र-[4]अग्नि-[5]सोम इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मा का अव्यय की आनन्दकला से, विष्णु का विज्ञानकला से, इन्द्र का मनःकला से, सोम का प्राणकला से, एवं अग्नि का वाक्कला से सम्बन्ध है। आनन्दमय ब्रह्मा एक स्वतन्त्र तत्त्व है। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र की समष्टि विष्णु है, एवं इन्द्र–अग्नि-सोम की समष्टि शिव है, यही त्रिमूर्त्ति है। एक ही अश्वत्थ (अव्यय)-वृक्ष के ये तीन विवर्त्त हैं। त्रिमूर्त्तिभावापन्न इसी अव्ययाश्वत्थ का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं—

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे।
अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः॥

आनन्द-ब्रह्मा हैं, आनन्द-विज्ञान-मन विष्णु हैं, मनःप्राण-वाक् शिव हैं। आनन्द ब्रह्मा है, चेतना विष्णु है, सत्ता शिव है। अश्वत्थाव्यय का मूलभाग आनन्द है, यही शिरोभाग है, यहीं ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं। मध्यभाग चेतना है, यही उदरभाग है, यहीं विष्णु प्रतिष्ठित हैं। अग्रभाग सत्ता है, यही पादभाग है। महादेव इस अश्वत्थवृक्ष के नीचे प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि आगमशास्त्र कहता है—

*** व्याख्यामुद्राक्षमाला--कलशसुलिखिते बाहुभिर्वामपादम्।**
बिभ्राणो जानुमुध्र्ना पदतलनिहितापस्मृतिग्रुद्रुमाधः॥
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः।
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो वः॥१॥

ब्रह्मा संयती-त्रैलोक्य के, विष्णु क्रन्दसी-त्रैलोक्य के, एवं शिव रोदसी-त्रैलोक्य के अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) देवता हैं। सम्पूर्ण विश्व इन्हीं तीनों देवताओं का वैभव है, जैसा कि पुराण कहता है—

"त्रयो लोकस्य कर्त्तारो ब्रह्मा–विष्णुः–शिवस्तथा।"

उक्त तीनों देवताओं में ब्रह्मा यजुर्वेद के अध्यक्ष हैं, ×विष्णु सामवेद के अध्यक्ष हैं, एवं शिव ऋग्वेद के अध्यक्ष हैं। ब्रह्मा मूलप्रतिष्ठा है, इसी पर प्रतिष्ठित होकर विष्णु-शिव सृष्टि-प्रलय किया करते हैं। इन तीनों की समष्टि ही "हृदयम्" है। "हृ" विष्णु हैं, आगति-स्वभाव से आदान करना इनका मुख्य काम है। "द्" शिव हैं, गति-स्वभाव के विसर्ग करना इनका मुख्य काम है। "यम्" ब्रह्मा हैं, स्थिति-स्वभाव से आदानविसर्गभावों का नियमन करना इनका मुख्य काम है। "यम्" रूप ब्रह्मा "सत्" हैं "हृ"रूप विष्णु "ती" हैं, "द्" रूप शिव "अम्" है। तीनों की समष्टि ही "सतियम्" किंवा "सत्यम्", है। हृदय ही सत्य है। यही त्र्यक्षररूप सत्यवेद है। इन सब विषयों का प्रकृत में निरूपण नहीं किया जासकता। यहाँ विषयसङ्गति के लिए केवल नाममात्र का उल्लेख कर देना ही पर्य्याप्त है। पञ्चाक्षरमूर्त्ति त्र्यक्षर ही सत्यवेद है, यही अक्षरवेद है, इसके उपोद्बलक आगे के श्रुतिवचन हैं—

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक–विवेचन भक्तियोगपरीक्षा–उत्तरखण्ड में देखना चाहिए।

× विष्णुतत्त्व ही कृष्णतत्त्व है। बासुदेवकृष्ण इसी के अवतार थे। अतएव उन्होंनें स्वविभूति–गणना में "वेदानां सावेदोऽस्मि" (गी० १०। २२।) यह कहा है।

१—"तद्यत् तत् सत्यं त्रयी सा विद्या" (शत० ६।५।१।१८)।

२—"तदेतत्त्र्यक्षरं सत्यमिति। "स इत्येकमक्षरम्" "ती" इत्येकमक्षरम्, "अम्" इत्येकमक्षरम्" (शत० १४।८६।२)।

३—"तदेतत् त्र्यक्षरं-हृदयमिति। "हृ" इत्येकमक्षरम्, 'द' इत्येकमक्षरम्, "यम्" इत्येकमक्षरम्" (श० १४।८।४।१)।

इसी सत्य को **नियति** कहा जाता है, नियति का विज्ञान ही वेद है, यही अक्षरवेद है, इसी वेद से सब शासित हैं। दूसरे शब्दों में-नियतिरूप वेद-दण्डने हीं सब को स्व-स्वकर्म्म में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। अन्तर्य्यामी की नियतिने ही सबका सञ्चालन कर रक्खा है, सभी इस वेदात्मक नियतिदण्ड से दण्डित हैं, यही नियतिरूप वेदसत्य धर्म्मदण्ड है, धर्म्म ही तो वेद है, वेद ही तो धर्म्म है, धर्म्म ही तो सत्य है। देखिए—

१—'यो वै धर्म्मः, सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म्मं वदतीति। धर्म्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति" (शत० १४।४।२।२६)।

१-आनन्दः-	ब्रह्मा (आनन्दमयः)	"तथाक्षराद्विविधा भावाः प्रजायन्ते"	--"अक्षरमित्युपास्व"
२-विज्ञानम्-	विष्णुः (विज्ञानमयः)		
३-मनः-	इन्द्रः (मनोमयः)		
४-प्राणः-	सोमः (प्राणमयः)		
५-वाक्-	अग्निः (वाङ्मयः)		
पञ्चकलः पुरुषः (अव्ययः)	पञ्चकला प्रकृतिः (अक्षरः)	* अक्षरप्रपञ्च	

* * * *

१-१-आनन्दः } —आनन्दः-ब्रह्मा (आत्मा)-चित्पतिः

—— * ——

१-आनन्दः
२-२-विज्ञानम् } —चेतना-विष्णुः (ज्योतिः)-देवपतिः
३-मनः

—— * ——

१-मनः
३-२-प्राणः } —सत्ता-शिवः (प्रतिष्ठा)-भूतपतिः
३-वाक्

—— * ——

"एकामूर्त्तिस्त्रयोवेदा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः"

—— * ——

१-१-आनन्दः-ब्रह्मा } —ब्रह्मा-........"स"-..........."यम्"...... अजुर्वेदः

१-आनन्दः-ब्रह्मा
२-२-विज्ञानम्-विष्णुः } —विष्णुः-......."ति"-.........."हृ"-........सामवेदः
३-मनः-इन्द्रः

१-मनः-इन्द्रः-
३-२-प्राणः-सोमः } —शिवः-........"यम्"-..........."द"—...ऋग्वेदः
३-वाक्-अग्निः

त्रिमूर्त्तिः | सत्यम् | हृदयम् | त्रयीविद्या

अक्षरवेदः
सत्यवेदः

इति-वैज्ञानिवेदनिरुक्तौ
ब्रह्मेन्द्रविष्णुसहकृता वेदनिरुक्तिः
(सत्यवेदनिरुक्तिर्वा)

८

—— * ——

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
ब्रह्मेन्द्रविष्णुसहकृता–वेदनिरुक्तिः
सत्यवेदनिरुक्तिर्वा

८

—*—

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ–
प्राण-आपः-वाक्-सहकृता-वेदनिरुक्तिः

६

——*——

श्रीः

अथ—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

प्राण-आपः-वाक्-सहकृता-वेदनिरुक्तिः

६

—※—

पूर्व की वेदनिरुक्ति में प्रकृति के अमृत—मर्त्य–भेद से दो रूप बतलाए गए हैं। अमृतरूप क्षयभावशून्य होता हुआ जहाँ अक्षर कहलाता है, वहाँ मर्त्यरूप क्षयभावयुक्त होने से **क्षर** कहलाता है। यही अव्ययपुरुष की अपराप्रकृति कहलाती है। इस अपराप्रकृति के मर्त्यब्रह्मात्मक **प्राण**, मर्त्य-विष्णवात्मक **आपः**, मर्त्य-इन्द्रात्मिका **वाक्**, मर्त्य-सोमात्मक **अन्न**, एव मर्त्य-अग्न्यात्मक **अन्नाद**, ये पाँच रूप हैं। इन पाँचों पर क्रमशः आनन्दमय अमृतब्रह्मा (अक्षररूब्रह्मा), विज्ञानमय अमृतविष्णु, मनोमय अमृतेन्द्र, प्राणमय अमृतसोम, एवं वाङ्मय अमृताग्नि का अनुग्रह है। जैसी परिस्थिति, जैसा संस्थानक्रम अव्ययपुरुष, एवं अक्षर का बतलाया गया है, ठीक वैसा ही संस्थानक्रम अपराप्रकृतिरूप इस आत्मक्षर का समझना चाहिए। प्राणतत्त्व स्वतन्त्र है, यही ऋषि है, प्राण—आप—वाक् तत्त्व की समष्टि ही पितृप्राणगर्भित **देवता** है, एवं वाक् अन्न—अन्नाद की समष्टि ही भूत है। भूत पर सत्तात्मक शिव का अनुग्रह है, अतएव शिव को भूतेश कहा जाता है। भूत ही अव्यक्त पदार्थों का व्यक्त लिङ्ग है। इसीलिए शिवतत्त्वप्रतिपादक **लिङ्गपुराण** ने भूतेश शिव का लिङ्गरूप से ही निरूपण किया है। पितर, एवं देवता पर चेतनात्मक विष्णु का अनुग्रह है, अतएव विष्णु को **पितृणां पतिः**, एवं **देवानां पतिः** कहा जाता है। ऋषितत्त्व पर आनन्दात्मक ब्रह्मा का अनुग्रह है।

ऋषितत्त्व ही क्षरप्रधान यजुर्वेद है, जैसा कि आगे के **तूलवेद**—प्रकरण में स्पष्ट होजायगा। दूसरे शब्दों में-ऋषिरूप ब्रह्मात्मक प्राण ही यजुर्वेद है। इसी आधार पर **"ऋषिर्वेदमन्त्रः"** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। इसी को **'ब्रह्मनिःश्वसित'** वेद कहा जाता है। यह आनन्दात्मक ब्रह्मा का ही निःश्वास है। पितृगर्भित देवतत्त्व ही क्षरप्रधान सामवेद है। इसी को **'गायत्रीमात्रिकवेद'** कहा जाता है। भूततत्त्व ही क्षरप्रधान ऋग्वेद है। इसी को **'यज्ञमात्रिकवेद'** कहा जाता है। उक्त पाँचों क्षरों से, किंवा क्षर की पाँच कलाओं से **विश्वसृट्**, **पञ्चजन**, **पुरञ्जन** क्रम से पाँच पुर उत्पन्न होते हैं, जैसाकि पाठक ईशविज्ञान-भाष्य प्रथमखण्ड में देखेंगे। वे ही पाँचों पुर क्रमशः **स्वयम्भू**, **परमेष्ठी**, **सूर्य्य**, **चन्द्रमा**, **पृथिवी**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। स्वयम्भू प्राणमय, किंवा ऋषिमय है। परमेष्ठी आपोमय, किंवा पितृमय है। सूर्य्य वाङ्मय, किंवा देवमय है। चन्द्रमा अन्नमय, किंवा गन्धर्वमय है। पृथिवी अन्नादमयी, किंवा भूतमयी है। इन पाँचों का भी वही संस्थानक्रम है, जौकि अव्यय—अक्षर-क्षर में बतलाया गया है। स्वयम्भू स्वतन्त्र है।

यही आनन्दात्मक, ब्रह्मानुग्रहीत, प्राणमय ब्रह्मनिःश्वसितवेद की विकासभूमि है । स्वयम्भू—परमेष्ठी–सूर्य्य–तीनों की समष्टि एक स्वतन्त्र विभाग है । यही आनन्दविज्ञानमनोमय, ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्ररूप विष्णु से अनुग्रहीत, प्राणापोवाङ्मय गायत्रीमात्रिकवेद की विकासभूमि है । सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है । यसी मनःप्राणवागात्मक, इन्द्र-सौम-अग्निरूप शिव से अनुग्रहीत, वाक्—अन्न–अन्नादमय यज्ञमात्रिकवेद की विकासभूमि है । कहना प्रकृत में केवल यही ही है कि, अक्षरवत् क्षर भी उक्त प्रकार से तीन वेदों का प्रवर्त्तक बन रहा है, जैसाकि परिलेखों से स्पष्ट होजाता है ।

१—आनन्दः	ब्रह्मा (आनन्दमयः)	प्राणः (ब्रह्ममयः)	एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते
२—विज्ञानम्	विष्णुः (विज्ञानमयः)	आपः (विष्णुमय्यः)	
३—मनः	इन्द्रः (मनोमयः)	वाक् (इन्द्रमयी)	
३—प्राणः	सोममः (प्राणमयः)	अन्नम् (सोममयम्)	
४—वाक्	अग्निः (वाङ्मयः)	अन्नादः (अग्निमयः)	
पञ्चकलः पुरुषः (अव्ययः)	पञ्चकला--पराप्रकृतिः (अक्षरः)	पञ्चकला-अपराप्रकृतिः (आत्मक्षरः)	क्षरप्रपञ्च

१-१-ब्रह्मा } प्राणः—ऋषयः————ज्ञानपतयः

१-ब्रह्मा
२-२-विष्णुः } वाक्—पितृगर्भिता देवाः——क्रियापतयः
३-इन्द्रः

१-इन्द्रः
३-२-सोमः } अन्नादः-गन्धर्वगर्भितानि भूतानि-अर्थपतयः
३-अग्निः

} क्षरः सर्वाणि भूतानि

* * * *

१-१-आनन्दः—ब्रह्मा—प्राणः (ऋषयः) } प्राणः-यजुर्वेदः (आत्मा) ब्रह्मनिःश्वसितवेदः

१-आनन्दः—ब्रह्मा—प्राणः (ऋषयः)
२-२-विज्ञानम्—विष्णुः—आपः (पितरः) } वाक्-सामवेदः (ज्योतिः) गायत्रीमात्रिकवेदः [२]
३-मनः——इन्द्रः—वाक् (देवाः)

* * * *

१-मनः——इन्द्रः—वाक् (देवाः)
३-२-प्राणः——सोमः—अन्नम् (गन्धर्वाः) } अन्नादः-ऋग्वेदः (प्रतिष्ठा) यज्ञमात्रिकवेदः [३]
३-वाक्——अग्निः—अन्नादः (भूतानि)

* * * *

१--१-ऋषिमूर्त्तिः--प्राणः (स्वयम्भूः) ब्रह्मा | स्वयम्भूः--ब्रह्मा (संयती) ब्रह्मनिं॰विकासभूमिः

१—ऋषिमूर्त्तिः--प्राणः (स्वयम्भूः)-ब्रह्मा
२-२—पितृमूर्त्तिः-आपः (परमेष्ठी)-विष्णुः } —सूर्य्यः विष्णुः (क्रन्दसी)--गायत्री॰ विकासभूमिः
३—देवमूर्त्तिः--वाक् (सूर्य्यः)-इन्द्रः

१—देवमूर्त्तिः--वाक् (सूर्य्यः)-इन्द्रः
२-२—गन्धर्वमूर्त्तिः-अन्नम् (चन्द्रमाः)-सोमः } —पृथिवी-शिवः (रोदसी)--यज्ञमा॰ विकासभूमिः
३—भूतमूर्त्तिः—अन्नादः (पृथिवी)-अग्निः

* * * *

इति-वेदनिरुक्तौ
प्राणापोवाक्सहकृता-वेदनिरुक्तिः

६

——*——

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
प्राणापोवाक्–सहकृता–वेदनिरुक्तिः
६

——*——

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
समष्टिरूपेण–आत्मवेदनिरुक्तिः

१०

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुतौ–
समष्टिरूपेण-आत्मवेदनिरुक्तिः

१०

——*——

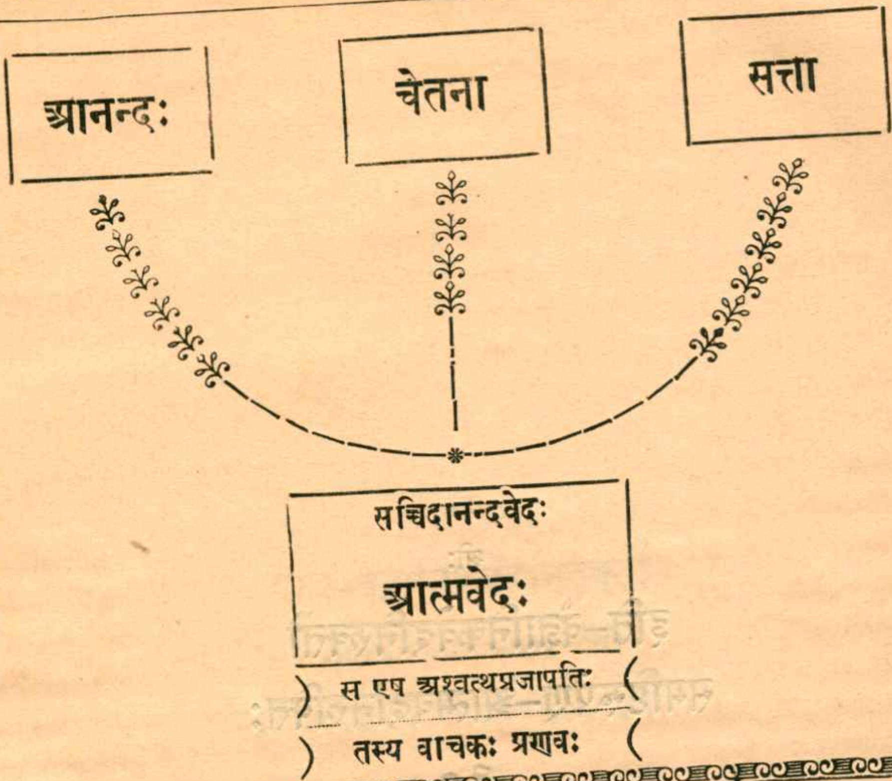
वेदतत्त्व का सम्बन्ध सच्चिदानन्दघन आत्मा से है। सत्ता—चेतना—आनन्द, इन तीनों कलाओं
का विकास चितिभाव से सम्बन्ध रखता है। रसप्रधाना **अन्तश्चिति** से (जोकि अन्तश्चिति **मुमुक्षा** से
सम्बन्ध रखती है) आनन्द, एवं चेतना का विकास होता है। बलप्रधाना बहिश्चिति से (जो कि बहिश्चिति
सिसृक्षा से सम्बन्ध रखती है) सत्ता का विकास होता है। मुमुक्षा-और सिसृक्षा, दोनों का आधार कामनामय
बल ही है। कामना का मन से सम्बन्ध है, मन का हृदय से सम्बन्ध है, हृदय का माया से सम्बन्ध है, माया
सीमाभाव की जननी है। फलतः सच्चिदानन्दघन आत्मा का सीमित होना सिद्ध होजाता है। इसीलिए हम
इसे **"विश्वात्मा"** नाम से सम्बोधित करते हैं। यह विश्वात्मा ही **"षोडशीप्रजापति"** नाम से प्रसिद्ध है।
पञ्चकल अव्ययपुरुष, पञ्चकल अक्षरपुरुष, पञ्चकल आत्मक्षरपुरुष, निष्कल परात्पर, इनकी समष्टि ही षोड़शी-
प्रजापति है। यही विश्वप्रविष्ट गूढोत्मा है। इस आत्मा का अव्ययभाग ज्ञानप्रधान है, अक्षरभाग क्रियाप्रधान
है, क्षरभाग अर्थप्रधान है। अर्थप्रधान **क्षरभाग ऋग्वेदमूर्त्ति** है, क्रियाप्रधान **अक्षरभाग सामवेदमूर्त्ति**
है, एवं ज्ञानप्रधान **अव्ययभाग यजुर्म्मूर्त्ति** है। तीनों की समष्टि एक आत्मवेद है। कलाभेद से प्रत्येक वेद
पुनः ऋक्-साम-यजुः-भेद से तीन तीन भागों में विभक्त है। (विवधभावापन्न–त्रिवृद्भावापन्न) इस आत्मवेद
का परमार्थतः सच्चिदानन्दकोटि में ही अन्तर्भाव है, जैसाकि समष्ट्यात्मक-आगे के परिलेख से स्पष्ट
होजाता है।

ओमित्येवं ध्यायथ-आत्मानम्

१

निष्कलः परात्परः-अर्द्धमात्रा (अमात्रा)

५ पञ्चकलोऽव्ययः	५ पञ्चकलोऽक्षरः	५ कलः क्षरः
आनन्दः	चेतना	सत्ता
यजुः १	साम २	ऋक् ३
१-आनन्दः → १ —आनन्दः-यजुः	१—ब्रह्मा → १ —ब्रह्मा—यजुः (आनन्दः)	१—प्राणः → १ —प्राणः—यजुः (आनन्दः)
१-आनन्दः २-विज्ञानम् ३-मनः → २ —चेतना-साम	१—ब्रह्मा २—विष्णुः ३—इन्द्रः → २ —विष्णुः—साम (चेतना)	१—प्राणः २—आपः ३—वाक् → २ —वाक्—साम (चेतना)
१—मनः २—प्राणः ३—वाक् → ३ —सत्ता—ऋक्	१—इन्द्रः २—सोमः ३—अग्निः → ३ —शिवः—ऋक् (सत्ता)	१—वाक् २—अन्नम् ३—अन्नादः → ३ —अन्नादः-ऋक् (सत्ता)
पुरुषवेदः अव्ययवेदः अकारः	पराप्रकृतिवेदः अक्षरवेदः उकारः	अपराप्रकृतिवेदः क्षरवेदः मकारः



ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तद्वेद स वेदवित् ॥

इति–वेदनिरुक्तौ–
समष्टिरूपेण–आत्मवेदनिरुक्तिः

१०

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
समष्टिरूपेण–आत्मवेदनिरुक्तिः
१०

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
ब्रह्म-विद्या –वेद-भिन्ना
ज्ञानलक्षणा-आत्मवेदनिरुक्तिः

११

——•——

श्रीः

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
ब्रह्म-विद्या-वेद-भिन्ना-ज्ञानलक्षणा-वेदनिरुक्तिः
११

---*---

श्रुतिग्रन्थों में वेद, विद्या, ब्रह्म, ये तीनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त देखे गए हैं। एक ही विज्ञानतत्त्व अवस्थाभेद से, किंवा उपाधिभेद से उक्त तीन स्वरूपों में परिणत होरहा है। प्रत्येक वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, इन चार प्रमाणों में से किसी न किसी प्रमाण की अपेक्षा रहती है। प्रमाणचतुष्टयी के आधार पर उदित होने वाला, अतएव **संशय-वीपर्य्ययादि** दोषों से सर्वथा असंस्पृष्ट जो सत्यज्ञान है, निर्भ्रान्त ज्ञान है, निश्चित ज्ञान है, उसे ही दार्शनिक विद्वान् **"प्रमा"** शब्द से सम्बोधित करते हैं। यह प्रमा जिस साधन से प्राप्त होती है, वही साधन **"प्रमाकरणं-प्रमाजनकं वा प्रमाणम्"** व्युत्पत्ति के अनुसार **"प्रमाण"** नाम से व्यवहृत किया जाता है। यह प्रमाज्ञान चार साधनों से प्रकट होता है, फलतः चारों साधनों का प्रमाणत्त्व सिद्ध हो जाता है।

वस्तु के प्रत्यक्ष देखने से उस वस्तु का ज्ञान (प्रमा) होजाता है। इसप्रकार प्रमा का जनक बनता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण कहला सकता है। "यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः" इस **अनुमान** से भी वह्निविषयक **"गोसदृशो गवयः"** सादृश्यमूलक इस **'उपमान'** से भी गवयपदार्थ का ज्ञान होजाता है। एवं अश्व-घट-पटादि शब्दों के सुनने से भी अश्व-घट-पट-आदि पदार्थों का ज्ञान होता देखा गया है। **विज्ञान में** चारों ही प्रमाण प्रमाज्ञान के जनक प्रमाणित होरहे हैं। प्रमाणावच्छिन्न **'प्रमाज्ञान'** ही का नाम **'विज्ञान'** है। अन्तःकरण की वृत्तिविशेष का ही नाम विज्ञान है। यह **विज्ञानवृत्ति** चिन्मयी ज्ञानमयी मानी गई है। **"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्"** ई० उ० १) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार संसार में समष्टिरूप से सर्वत्र चिदंश व्याप्त है। सामान्य मनुष्य चेतन-प्राणियों में तो चिदंश की सत्ता मानते ही हैं, परन्तु उन्हें विश्वास करना चाहिए कि, जिन पदार्थों को वे जड़ समझते हैं, विज्ञानदृष्टि के अनुसार वे भी चिदंश से नित्य अनुगृहीत रहते हैं। सर्वव्यापक, किंवा विश्वव्यापक इसी चैतन्य का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

—कठ० १।३।१२

सर्वव्यापक, साथ ही में **योगमाया** के अनुग्रह से अन्तःकरणावच्छिन्न बना हुआ यही चिदात्मा प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में उक्थबिम्बरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ **अर्करूप** (रश्मिरूप) से बाहिर निकल कर

तत्तद्विषयों से युक्त होकर तत्तद्विषयाकाराकारित बनता हुआ हमें (वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति जीवात्मा को) तत्तिद्विषयों का ज्ञान करवाता रहता है । चित् के ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः **'उक्थ–अर्क–अशीति'** इन नामों से व्यवहृत होते हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है । विषय अशीति है, आत्मरश्मियाँ अर्क है, स्वयं आत्मा उक्थ है । आत्मा अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्य है । आत्मरश्मियाँ अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न-चैतन्य है । तीसरा विभाग विषयावच्छिन्न–चैतन्य का है । प्रकारान्तर से यों समझिए, कि हमारे में चित् है, जिन विषयों को हम देखते हैं–उन में चित् है, एवं जिस वृत्ति से हम देखते है–वह भी चिन्मयी है । तीनों स्थानों में व्याप्त चैतन्यं, जब एक स्थान पर, एक बिन्दु पर आजाता है, तो पूर्वोक्त प्रमाज्ञान का उदय होजाता है । यही उस विषय का प्रत्यक्ष कहलाता है । **'अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं, अन्तःकरण–वृत्यवच्छिन्नं चैतन्यं, विषयावच्छिन्नं–चैतन्यं–चैतन्यम् । एतेषां त्रयाणामेकत्र प्रतिपत्तिः प्रत्यक्षम्'** इस वेदान्त–सिद्धान्त के अनुसार तीनों चैतन्यों के एकत्र समन्वय पर ही प्रमाज्ञान प्रतिष्ठित है । हम अपने स्थान पर बैठे हैं । सामने घड़ा रक्खा है । हम से ज्ञानरश्मियाँ निकल कर घटज्ञान का हमारे आत्मज्ञान के साथ सम्बन्ध करा देतीं हैं । अव्यवहितोत्तरकाल में हीं **'घटमहं जानामि'** यह प्रमाज्ञान उदित होजता है ।

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य **'प्रमाता'** है, विषयाच्छिन्न चैतन्य **प्रमेय** है, एवं वृत्यवच्छिन्न चैतन्य प्रमा का साधक, किंवा उत्पादक बनता हुआ **'प्रमाण'** है । प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, तीनों के समन्वय से ही विषय की प्रतीति होती है । इन सब का मूलाधार **'प्रमाता'** नामक अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही है । यह प्रमाता उस प्रमा का ही मौलिकरूप है । प्रमातृमयी यह प्रमा (ज्ञान) स्वस्वरूप से नित्यशुद्ध–मुक्त है । इसे हमनें उक्थ (प्रभव) बतलाया है । इसमें से निरन्तर रश्मियाँ निकला करतीं हैं । इन्हीं रश्मियों को ही दार्शनिक परिभाषा में **'अन्तःकरणवृत्ति'** कहा गया है । विज्ञानपरिभाषानुसार यही वृत्ति **'विज्ञान'** नाम से व्यवहृत हुई है । यह विज्ञान ज्ञान है, उस उक्थरूप ज्ञानघन आत्मा का अंश है । यद्यपि अन्तःकरणवृत्तिरूप यह विज्ञान भी आत्मज्ञानवत् प्रातिस्विकरूप से एक ही है, तथापि जैसे विविध वर्णभेद से एक ही प्रकार की सौररश्मियाँ तत्तद्वर्णयुक्त आदर्शो (काचों) के साथ संक्रान्त होकर तत्तद्वर्णरूप में परिणत होजाती हैं, एवमेव वह शुद्ध एकरूप विज्ञान भी विषय के भेद से तीन स्वरूप धारण कर लेता है । विषयभेदभिन्न वह त्रिविध विज्ञान ही **वेद, विद्या, ब्रह्म**, इन नानों से प्रसिद्ध है ।

आपके सामने घड़ा रक्खा हुआ है । उसके साथ वृत्तिरूप विज्ञान का सम्बन्ध होता है, विज्ञान घटाकाराकारित बन जाता है । यही ज्ञान **'विषयावच्छिन्नज्ञान'** कहलाने लगता है । इस विषयावच्छिन्न–विज्ञानात्मक ज्ञानने अपने ऊपर घट को धारण कर रक्खा है । अतएव **'बिभर्त्ति विषयं तद्ब्रह्म'** इस व्युत्पत्ति से इस विषयावच्छिन्न ज्ञान को **'ब्रह्म'** कहा जासकता है । आपके सामने घट नहीं है । केवल आप के कानों में **'घट'** शब्द का प्रवेश होता है । इस शब्दश्रवण से भी घटपदार्थ का ज्ञान होजाता है । इस **शब्दावच्छिन्नज्ञान** को ही हम वेद कहेंगे । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि–विषय ही **शब्द**, और **अर्थ** भेद से दो भागों में विभक्त हैं । अर्थात्मक विषय से अवच्छिन्न (युक्त) वही ज्ञान ब्रह्म है, एवं शब्दात्मक विषय से अवच्छिन्न वही ज्ञान वेद है । शब्द, एवं अर्थ के द्वारा होने वाला ज्ञान यदि निरन्तर प्रवाहित रहता है, दूसरे शब्दों में पदार्थ को, किंवा तद्वाचक शब्दों को यदि बुद्धिपूर्वक निरन्तर देखा, एवं सुना जाता है, तो कालान्तर में तज्जनित संस्कार आगे जाकर स्मृति का जनक बनता है । यह **संस्कारावच्छिन्न ज्ञान ही 'विद्या'**

है। कहने को वेद-विद्या-ब्रह्म-पृथक् हैं। उपाधिशून्या विज्ञानदृष्टि से तीनों एक ही तत्त्व हैं। इसीलिए-
'त्रयं ब्रह्म-त्रयो वेदाः-त्रयी विद्या' इत्यादिरूप से इन तीनों में संकरव्यवहार देखा जाता है। एक ही तत्त्व
को कहीं वेद शब्द से, कहीं विद्या शब्द से, कहीं ब्रह्म शब्द से व्यवहृत करना तभी सुसङ्गत होसकता है, जब कि
तीनों को एक तत्त्व मान लिया जाता है। एवं तभी-**'सैषा त्रयीविद्या-यज्ञः** (शत० १।१।४।३।)
'त्रयंब्रह्म सनातनम्' (मनु० १।२३।) **'त्रयो वेदाः'** (श० १०।४।२।२५) इत्यादि श्रौत-स्मार्त-
व्यवहारों का समन्वय होसकता है।

प्रकारान्तर से तथ्य का समन्वय कीजिए। वही अन्तःकरणवृत्ति (विज्ञान) विषयाकाराकारिता बन कर 'ब्रह्म'
कहलाने लगती है, संस्काराकारिता बनकर **'विद्या'** कहलाने लगती है, एवं शब्दाकाराकारिता बनकर वही
'वेद' कहलाने लगती है। जिस समय हम घट पर दृष्टि डालते हैं, उसी समय घटज्ञान होजाता है। यह
प्राथमिक-ज्ञान, दूसरे शब्दों में तात्कालिक ज्ञान ही विषयाकाराकारित ज्ञान है। इस समय हमारा ज्ञान घटाकारा-
कारित बनकर ही प्रतिभासित होता है। सूर्य्यवत् स्वज्ज्योतिर्म्मय यह ज्ञान विजातीय घट को
स्वरश्मियों से **'घटमहं जानामि'** इस रूप से प्रकाशित करता हुआ **'जानामि-इत्यपि जानामि'** इस रूप से
अपने आपको भी प्रकाशित कर रहा है। दूसरे शब्दों में-जिसप्रकार सूर्य्य त्रैलोक्य के पदार्थों को प्रकाशित
करता हुआ उन्हें दिखलाता है, एवमेव यह अपने प्रकाश से अपने आपको भी दिखलाता रहा है। इसी
प्रकार, यह ज्ञानसूर्य्य विषयों को दिखलाता हुआ अपने भी दर्शन करा रहा है। 'हम घड़ा जानते हैं'-यह
विषयदर्शन है। 'हम घड़ा जानते हैं-यह भी जानते हैं,' यह स्वदर्शन है। यही स्वज्ञान **पार्ष्टिज्ञान, प्रत्यय-**
आदि नामों से प्रसिद्ध है। वक्तव्यांश यही है कि, विषयावच्छिन्ना यह अन्तःकरणवृत्ति ही अतिशयरूप से
बुद्धि में प्रतिष्ठित होकर **'संस्कार'** नाम से व्यवहृत होने लगती है। दूसरे शब्दों में-शब्दविषयात्मक, एवं
अर्थविषयात्मक विषयावच्छिन्न ज्ञान हीं आगे जाकर संस्कारावच्छिन्नज्ञानरूप में परिणत होजाता है। साथ ही
में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, शब्द और अर्थ दोनों अविनाभूत हैं, तादात्म्यभावापन्न हैं। अतएव
शब्दात्मक विषयज्ञान के अवसर पर अर्थात्मक विषय सहकारी बना रहता है, एवं अर्थात्मक विषयज्ञान के
अवसर पर शब्दात्मक विषय सहकारी बना रहता है। घटविषयक अर्थज्ञानकाल में घट शब्द भी अन्तःकरण
में प्रकट होजाता है। गोपशु को जब हम अपने सामने खड़ा देखते हैं, तो गोअर्थ का ज्ञान तो होता ही है,
परन्तु साथ साथ ही गोशब्द भी हमारी ज्ञानसीमा में प्रविष्ट होजाता है। इसी प्रकार **'गौ'** शब्द सुनने से
शब्दात्मक ज्ञान तो होता ही है, परन्तु साथ ही गोशब्दवाच्य गोपदार्थ भी ज्ञानसीमा में प्रविष्ट होजाता है।
कारण इसका यही है कि-पार्वतीपरमेश्वर की भाँति शब्द, और अर्थ दोनों नित्य सम्बद्ध हैं। इसी तादात्म्य-
सम्बन्ध का निरूपण करते हुए भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

—वाक्यपदी

पूर्व कथनसे—**'विषयाकारारिता अन्तःकरणरूपावृत्ति संस्कार, और शब्द दोनों को साथ
लेती हुई प्रवृत्त होती है'** यह भलीप्रकार सिद्ध होजाता है। यही वृत्ति **संस्कारज्ञानरूपा है, यही
अर्थज्ञानरूपा है,** एवं यही **शब्दज्ञानात्मिका** है। इसी अभेदभाव के कारण हम तीनों को (प्रत्येक को) वेद-

ब्रह्म-विद्या इन तीनों शब्दों से सम्बोधित करसकते हैं। कारण स्पष्ट है। आरम्भ में तीनों की यद्यपि विजातीयरूप से प्रतीति होती है, परन्तु विज्ञानदृष्टि से तीनों समान हैं। अर्थावच्छिन्न ज्ञान भी अन्ततोगत्वा ज्ञान है, संस्कारावच्छिन्न ज्ञान भी ज्ञान है, एवं शब्दावच्छिन्न ज्ञान भी ज्ञान है—**"सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते'** (गीता० ४।३३।)। विशेषणभेद से साधारण दृष्ट्या भेद प्रतीत होने पर भी मौलिक-तत्त्वदृष्टि से तीनों सर्वथा एक हैं। थोड़ी देर के लिए विशेषणभेद को प्रधान मान कर ही विचार कीजिए। इस भेदभाव की प्रधानता के कारण सर्वथा विभिन्न वेद-विद्या—ब्रह्म-तीनों के अवान्तर तीनों वेदों का स्वरूप भिन्न भिन्न होजाता है। अर्थात्मक ऋग्—यजुः—साम—भिन्न हैं, इसी भेद को लक्ष्य में रखकर **"त्रयं ब्रह्म"** **"त्रयोवेदाः"—"त्रयीविद्या"** यह कहा गया है। इसप्रकार ब्रह्म-वेद—विद्या-रूप तीन विशेषणों के भेद से तीनों को पृथक् मान लेने पर भी कोई क्षति नहीं है। भले ही तीनों भिन्न स्रोत हों, वह तो एक ही तत्त्व है। वही ब्रह्म बना है, वही विद्यास्वरूप में परिणत हुआ है, एवं वही वेद बना है। नाम—रूपात्मिका प्रतीति का आधारभूत वेद भी वही है, सर्वप्रतिष्ठारूप ब्रह्म भी वही है, वही संस्काररूप आत्मा का अन्न बना हुआ है—**"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्"** इसका कौन प्रतिवाद कर सकता है ?। ज्ञानघन आत्मतत्त्व की इन्हीं विभूतियों का निरूपण करती हुई **उपनिषच्छ्रुति** कहती है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूपमन्नं च जायते ॥
—मुण्डक० १।१।६।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
—यजुः सं० ३१।७

श्रुत्युक्त नामरूपात्मक तत्त्व शब्दप्रधान बनता हुआ वेदप्रधान है। अर्थात्मक प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म ब्रह्मप्रधान है, अन्न संस्कारात्मिका विद्या का सूचक है। उक्त मुण्डकश्रुति का विशद वैज्ञानिक विवेचन तो **"मुण्डकोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य"** में हीं देखना चाहिए। यहाँ प्रकरणसङ्गति के लिए केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि, **ज्ञान—क्रिया-अर्थ-मय,** अतएव **सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सर्ववित्** नामों से प्रसिद्ध, अव्ययात्मक्षर से अनुग्रहीत, अक्षरमूर्त्ति, उस चिद्घन **प्रजापत्ति** के ज्ञानमय तप से पहिले **"ब्रह्म-नामरूप-अन्न"** ये तीन हीं तत्त्व प्रादुर्भूत हुए हैं। ब्रह्म से **अर्थसृष्टि** का विकास हुआ है, नामरूप से **शब्दसृष्टि** का वितान हुआ है, एवं **अन्न** से उभय (शब्दार्थ) सम्बद्धा **संस्कारसृष्टि** का उदय हुआ है। सृष्टिवर्ग में ये तीन सृष्टियाँ हीं प्रधान हैं। इतर सम्पूर्ण सृष्टियों का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव है। अर्थसृष्ट्यवच्छिन्न वही प्रजापति **ब्रह्म है,** शब्दसृष्ट्यवच्छिन्न वही प्रजापति **वेद है,** एवं संस्कारसृष्ट्यवच्छिन्न वही प्रजापति **विद्या** (अपराविद्या) है।

यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि—अर्थ ही ज्ञान, एवं क्रिया की प्रतिष्ठा है। निर्विषयक ज्ञान तो निर्विकल्पक बनता हुआ तिरोहित ही होजाता है। एवमेव क्षणिक क्रिया का आधार भी स्थिर अर्थ (पदार्थ) ही है। यदि अर्थ न हो, तो क्रिया कहाँ प्रतिष्ठित रहे ?। विषयात्मक अर्थ ही ज्ञान, एवं क्रिया को अपने ऊपर

प्रतिष्ठि रखता है। दूसरे शब्दों में-ज्ञान, एवं क्रिया विषयावच्छिन्न प्रजापति पर प्रतिष्ठित हैं। अतएव "बिभर्त्ति ज्ञानक्रिये-तद्ब्रह्म" इस निर्वचन के अनुसार अर्थावच्छिन्न (विषयावच्छिन्न) प्रजापति को हम अवश्य ही "ब्रह्म" कह सकते हैं। यही ब्रह्मतत्त्व सब की प्रतिष्ठा है—**"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'** (शत० ६।१।१।६।)। यही उस प्रजापति का पहिला **ब्रह्मविवर्त्त'** है।

शब्द से वस्तु का रूप, एवं नाम दोनों पकड़ में आजाते हैं। **"गौ"** शब्द के सुनते ही **"गौ"** यह नाम, और सास्नादिमत्त्व गौ का रूप, दोनों गृहीत होजाते हैं। ऐसी अवस्था में शब्दावच्छिन्न प्रजापति को हम अवश्य ही **"नामरूप"** कह सकते हैं। नामरूप से ही विषय प्रकाशित रहता है, एवं नामरूप से ही विषय की भाति (ज्ञान) होती है। अतएव नामरूप को **"ज्योति"** भी कहा जाता है। यही उस प्रजापति का दूसरा **'नामरूपविवर्त्त'** है।

नामरूपात्मक ज्योतिर्म्मय शब्द, एवं अर्थात्मक ब्रह्म, दोनों से आत्मा संस्कृत रहता है। संस्कारावच्छिन्न प्रजापति ही **अन्न** है। विषयसंस्कार ही आत्मा के **उक्थ** हैं। जबतक उक्थ है, तभीतक **अर्क** हैं। जबतक अर्क हैं, तभीतक आत्मा के साथ **अशीति** (अन्न) का सम्बन्ध है। अन्न ने ही साकाररूप में परिणत होकर आत्मा को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कर रक्खा है, जैसाकि—**"अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते"** इत्यादि श्रौतवचन से स्पष्ट है। जिस दिन अन्नाहुति बंद होजाती है, साथ ही में पहिले से प्रतिष्ठित उक्थों का भोग समाप्त होजाता है, उस दिन आत्मा संस्कारशून्य होता हुआ मुक्त होजाता है। **उक्थविद्या** वेद की एक बड़ी ही रहस्यपूर्णा विद्या है। विषेषतः **सामवेद** में इसना विशद निरूपण हुआ है। आत्मा में अनन्त अशीतियों के कारण संस्काररूप अनन्त उक्थ बैठे रहते हैं। इन अनन्त उक्थों की आश्रयभूमि होने से ही आत्मा को **"महदुक्थ"** कहा जाता है। आत्मा में जिस अन्न का उक्थ पहिले से प्रतिष्ठित रहता है, वह तत्समानधर्म्म अन्न की ही इच्छा करता है। सात्विक उक्थप्रधान आत्मा सात्त्विक अन्न की, तामस वाला तामस की, राजस वाला राजस की ओर ही प्रवृत्त होता है। यदि बलात्कार से प्रकृतिविरुद्ध अन्न का आगमन होता है, तो सहसा आत्मा घबड़ा जाता है। परन्तु आगत अन्न कालान्तर में एक स्वतन्त्र उक्थ बनता हुआ पुनः तदन्नग्रहण से शान्त होजाता है। एक व्यक्ति मद्य से घृणा करता है। इस घृणा का कारण यही है कि, उसके आत्मा में मद्य का उक्थ नहीं है, अतएव तद्रूप अर्क नहीं निकलते। ऐसे व्यक्ति की किसी मद्यपी (शराबी) से मैत्री होजाती है। सङ्गातिशय के कारण मद्यपरमाणु संस्काररूप से धीरे धीरे उस व्यक्ति के आत्मा में (आत्मानुगृहीत मानस-धरातल में) खचित होते जाते हैं। कालान्तर में जिस दिन संस्कारभाव पुञ्जरूप में परिणत होकर उक्थरूप में परिणत होजाता है, उस दिन उस मद्योक्थ से मद्यमय अर्क निकल पड़ते हैं। बिम्ब बना नहीं कि, रश्मियाँ निकलीं नहीं। ये ही अर्क, किंवा रश्मियाँ उस व्यक्ति की मद्यपान की इच्छा है। इसी इच्छा का वशवर्त्ती बना हुआ वह धीरे धीरे स्वयं भी शराबी बन जाता है। इसप्रकार अर्क-रूपा कामना का प्रधान स्तम्भ सङ्ग भी बन जाया करता है—**'सङ्गात् सञ्जायते कामः"** (गी० २।६२।)। इसी उक्थार्कभाव से बचने के लिए ऋषियोंनें कुसङ्ग का पूर्ण नियन्त्रण किया है। अत्र निवेदन यही करना है कि, अन्न ही उक्थरूप संस्कारों का जनक बनता है। एवं संस्कारों के अनुसार ही अन्नादान होता है। इसी संस्कार की कृपा से आत्मा शरीरबन्धन में पड़ा हुआ है। अन्नाहुति से ही आत्मयज्ञ (जोकि आत्मयज्ञ ब्राह्मणश्रुतियों में –**"भैषज्ययज्ञ"** नाम से सम्बोधित हुआ है) सम्पन्न होता है। अतएव इस अन्नतत्त्व को **'यज्ञ'** भी कहा जाता है। यही उस प्रजापति का तीसरा **"अन्नविवर्त्त"** है।

ब्रह्म ही प्रतिष्ठा है। नामरूप ही ज्योति है, एवं अन्न ही यज्ञ है। इन तीनों की समष्टि ही **'सर्वम्'** है। प्रतिष्ठा ब्रह्म है, यही विषयावच्छिन्न ज्ञान है। ज्योति नामरूप है, यही शब्दावच्छिन्न ज्ञान है, यही वेद है। यज्ञ अन्न है, यही संस्कारावच्छिन्न ज्ञान है, यही विद्या है। अपने ज्ञानमय तप से इन तीनों को उत्पन्न कर **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** के अनुसार वह अभिन्नरूप से तीनों विवर्त्तों में व्याप्त होरहा है। वह कारण है, ये तीनों उस एक के तीनों कार्य्य हैं। कार्य्यदृष्टि से तीनों भिन्न हैं, कारणदृष्टि से तीनों अभिन्न हैं, एक हैं। कारणभूत सुवर्ण से निर्मित कटक–कुण्डल–ग्रैवेयक [चन्द्रहार] तीनों कार्य्य भिन्न भिन्न हैं, सुवर्ण तीनों में समान है। कार्य्यदृष्टि से तीनों भिन्न भिन्न हैं, कारणदृष्टि से तीनों एक तत्त्व है। निष्कर्ष यही हुआ कि–**'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** [छा० उप० ६।१।४] इस सिद्धान्त के अनुसार कारण से अनतिरिक्त अभिन्न ब्रह्म–वेद–विद्या, इन तीनों कारणों को यदि कारणदृष्टि से देखा जाता है, तो कार्य्यभेदसत्ता विलीन होजाती है। उदाहरण के लिए पाँचों **महाभूतों** का विवर्त्तवाद ही अपने सामने रखिए। **पार्थिव** विभाग [मिट्टी] ६४ प्रकार के हैं, **आप्यविभाग** [जल] ३० हैं। **मृत्–शर्करा–सिकता–घामन–वल्मीक–पीत–रक्त–श्वेत** आदि भेद से मिट्टी ६४ जाति में विभक्त है। **अम्भ–मरीचि–मर–श्रद्धा–स्यन्दन्ती–एकधना–वसतीवरी**–आदि भेद से पानी के ३० भेद है। एकविध **गायत्रीतेज** एकविध **सावित्रतेज**, अष्टविध **नाचत्रितेज** भेद से तेज १० भागों के विभक्त है। **धुनि–ध्वान्त–ध्वन–ध्वनयन्–निलिम्प–विलिम्प–विक्षिप–ऋत्–सत्य–ध्रुव–वरुण–वर्त्ता–विधर्त्ता**–आदि वायु के ४९ अवान्तरभेद हैं। **परमाकाश–पुराणाकाश–शरीराकाश–हृदयाकाश–दहराकाश** भेद से आकाश पाँच भागों में विभक्त है। इन सब १५८ विभागों का वैज्ञानिकोंनें पाँच ही भूतों में अन्तर्भाव मान लिया है। प्रकारान्तर से देखिए। पृथिवी अन्न है, इसके ६४ भेद है, जल के ३० भेद हैं, तेज के १० भेद हैं, संभूय १०४ कार्य्य होजाते हैं। आर्ष वैज्ञानिक विद्वान् इन सब अवान्तर कार्य्यों की अविवक्षा कर **तेज––अप्––अन्न**, इन तीनों कारणों में हीं इन सब कार्य्यों का अन्तर्भाव मानते हुए तीन ही तत्त्व मानते हैं। **त्रिवृत्करणविद्या** में ऋषियोंनें तेज-अप्–अन्न की ही सत्ता स्वीकार की है—[छन्दोग्य० उप० ६।३।३।] इस **भूतविद्या** के अनुसार **ब्रह्मविद्या** में भी ऋषियोंनें कार्य्यभूत ब्रह्म–विद्या–वेद–इन तीनों का अपेक्षा न रखते हुए कारणभूत, अनिवर्चनीय सर्वत्र व्याप्त, महामहनीय, एक ही परमब्रह्म [अव्ययक्षरानुग्रहीत अक्षर] की सत्ता स्वीकार की है। यही सबका आत्मा है। हम जो कुछ देखते हैं–**'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'** के अनुसार नानाभेदभिन्न वह सम्पूर्ण प्रपञ्च ऐतदात्म्य है, आत्ममय है। इसी आत्मदृष्टि के आधार पर **"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"–'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च'** इत्यादि नैगमिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं।

इसप्रकार अबतक के कथन से यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि, **सदसद्रूप** कारणभूत ब्रह्म के कार्य्यरूप ब्रह्म–वेद–विद्या, इन तीनों कार्य्यों के कार्य्यत्त्व का अपलाप कर देते से दृश्यमान प्रपञ्च आत्मरूप ही है। घड़ा मिट्टी से बना है। मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य्य है। दोनों में परस्पर भेदाभेद, किंवा **भेद–सहिष्णु–अभेदसम्बन्ध** है। ऐतदात्म्य–सम्बन्ध से दोनों ही व्यवहार देखे जाते हैं। **"घटोऽयं मृत्तिकैव"** [यह घड़ा मिट्टी ही है]––**'घटोऽयं मृत्तिकाजन्यः'** [यह घड़ा मिट्टी से उत्पन्न हुआ है, दोनों हीं व्यवहार सुप्रसिद्ध हैं। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी–**'ब्रह्मैवेदमीश्वरः–विद्येयमीश्वरः, वेदोऽयमीश्वरः'** यह व्यवहार भी होसकता है। एवं **'ब्रह्मेदमीश्वरकृतम्, विद्येयमीश्वरकृता–वेदोऽययीश्वरकृतः'** यह व्यवहार भी सम्भव है। इसी कार्य्यकारणभाव को लक्ष्य में रखते हुए हम 'वेद' को साक्षात् परमेश्वर कह सकते हैं।

साथी ही में **"वेदईश्वरकृत है"**, यह भी कहा जासकता है। जिनके मतानुसार (कारणपक्षपातियों के मतानुसार) ईश्वर वेदमूर्त्ति है, ईश्वर अन्यपुरुषसे अनुत्पन्न है, नित्य है, अतएव वेद भी अपौरुषेय है, अकृतक है, नित्यकूटस्थ है, उनके इस मत का भी कारणदृष्टि से समादार किया जासकता है। एवं जो वेद को ईश्वरकृत मानने के पक्षपाती [कार्य्यदृष्टि को प्रधान मानने वाले] हैं, उनके मतानुसार भी वेद की अपौरुषेयता, एवं नित्यता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण बनी रह जाती है। कारण स्पष्ट है। महापुरुष ईश्वर के अतिरिक्त उसका बनाने वाला और कौन होसकता है ?। उधर उस नित्य महापुरुष की इच्छाशक्ति सर्वथा नित्या है। नित्यइच्छासिद्ध इस नित्यवेद की अपौरुयेयता में कोई बाधा नहीं आसकती। ईश्वर को पुरुष मान कर थोड़ी देर के लिए तत्कृतिसाध्यता का समादर करते हुए वेद को पौरुषेय भी मानलें, तब भी कोई नहीं क्षति है। "शास्त्रयोनित्त्वात्" [शारीर० सू० १।१।३।] इत्यादि वेदान्तसूत्र ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं समझते।

ब्रह्मतत्त्व को हमने प्रतिष्ठा कहा है। यही आत्मा की **सत्ताकला** का विकास है, यही ऋग्वेद है। वेदतत्त्व को हमने ज्योति कहा है। यही आत्मा की **चित्कला** का विकास है, यही सामवेद है। विद्या को हमने **आत्मोक्थ** कहा है। यही आत्मा है, यही आत्मा की आनन्दकला का विकास है, यही यजुर्वेद है। वही ब्रह्म–वेद–विद्या–लक्षण आत्मवेद है। आत्मा के त्रिवृद्भाव के कारण इन में [प्रत्येक में] तीनों वेदों का उपभोग होजाता है। ऋङ्मय ब्रह्मात्मक वेद भी त्रयीवेद है, साममय वेदात्मक वेद भी त्रयीवेद है, एवं यजुर्मय विद्यात्मक वेद भी त्रयीवेद है।

१–वेदवेदः (सामवेदः)—

विषयावच्छिन्न ज्ञान को ही हमने ब्रह्म कहा है। यही प्रतिष्ठातत्त्व है, यही सत्तातत्त्व है, यही ऋग्वेद है। इस 'विषय' में नाम–रूप–कर्म्म, ये तीन कलाएँ नित्य प्रतिष्ठित रहती हैं। इनमें नामप्रपञ्च वाङ्मय ऋग्वेद है, रूपप्रपञ्च मनोमय यजुर्वेद है। एवं कर्म्मप्रपञ्च प्राणमय सामवेद है।

२–ब्रह्मवेदः (ऋग्वेदः)—

शब्दावच्छिन्न ज्ञान को ही हमनें वेद कहा है। यही ज्योतितत्त्व है, यही चेतनातत्त्व है, यही सामतत्त्व है। वाङ्मय शब्द ही चेतना का निर्गमस्थान है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जबतक मानव बोलता रहता है, तभीतक उसके सम्बन्ध में **'अरे ! देखो देखो उसने चेत कर लिया'** यह कहा जाता है। चेत करना चेतना का ही व्यापार है। यही आत्मज्योति है। **'वागृज्योतिरयं पुरुषः'** का भी यही रहस्य है। **'सर्वं शब्देन भासते'** भी शब्दतत्त्व के इसी ज्योतिर्म्मय चेतना–भाव का ही समर्थन कर रहा है। यह शब्द-प्रपञ्च गद्य-पद्य-गेय-भेद से तीन भागों में विभक्त है। स्मरण रहे, इन तीनों से सुप्रसिद्ध यजुः-ऋक्-साम नाम की वेदसंहिताएँ कभी अभिप्रेत नहीं है। अपितु प्राणिमात्र की वागिन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाले शब्द से ही यहाँ हमारा तात्पर्य्य है। संसार के शब्दमात्र में जितना गद्य का अंश है, वह सब यजुर्वेद का विकास है। कारण इस का यही है कि, यजुर्म्मय आत्मा आनन्दप्रधान है। आनन्द निःसीमतत्त्व है। अव्ययप्रधान आनन्द ही यजुः है। गद्य भी निःसीम है। इसी सादृश्य के कारण हम गद्यात्मक शब्दप्रपञ्च को यजुर्वेद

मान सकते हैं। पद्यात्मक [छन्दोबद्ध] शब्दप्रपञ्च को हम ऋग्वेद कह सकते है। कारण इसका यही है कि, ऋग्वेदमय आत्मा सत्ता-प्रधान है। सत्ता प्रतिष्ठातत्त्व है। क्षरप्रधाना सत्ता ही ऋग्वेद है। क्षरकूट ही तो सत्ता है, व्यञ्जनकूट ही तो पद्य है। इसी सादृश्य के कारण पद्यात्मक शब्द ऋग्वेद है। 'गेय' भाग सामवेद है। पद्य में ही स्वरलहरी के समावेश से गान का स्वरूप निष्पन्न होजाता है। पद्य का वितान [फैलाव] ही तो गान है। साममय आत्मा चेतनाप्रधान है। सामात्मक गान से पशु पक्षियों तक में चैतन्य विकसित देखा गया है। अक्षरप्रधाना यह चेतना ही साम है। अक्षर को ही स्वर कहा जाता है। स्वर ही तो वितत होकर पद्य को गेय बना डालता है। इसी समानता से हम गेय भाग को साम मान सकते हैं–'गीतिषु सामाख्या'।

*

३—विद्यावेदः (यजुर्वेदः)—

संस्कारावच्छिन्न ज्ञान को ही विद्या कहा गया है। संस्कार तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं। शब्दश्रवण से भी संस्कार होता है। कर्म्म करने से भी संस्कार होता है, यही कर्म्मात्मक, किंवा कर्म्मप्रधान संस्कार है। विषयज्ञान से भी संस्कार होता है, एवं बिना विषय के केवल सांस्कारिक विषयों के आधार पर नवीन नवीन काल्पनिक संस्कार उदित होते रहते हैं। इन दोनों में विषयज्ञान–सम्बन्धी प्रथम संस्कारों का तो पूर्व के कर्म्म-संस्कारों में ही अन्तर्भाव है। दूसरे काल्पनिक संस्कार ज्ञानसंस्कार, किंवा ज्ञानप्रधान संस्कार कहलाते हैं। यहाँ जिन संस्कारों के आधार पर ज्ञान नवीन कल्पना करता है, वे भी ज्ञानमय हैं, एवं स्वयं ज्ञान तो ज्ञान है ही। इसीलिए इन काल्पनिक संस्कारों को हम ज्ञानसंस्कार कह सकते हैं। शब्द सुनने से आत्मा पर एक छाप सी लग जाती है, विषयदर्शन से भी वह विषय हृत्पटल पर खचित होजाता है। ठाले बैठे नई नई कल्पनाओं से भी नवीन नवीन संस्कार उदित होते देखे गए हैं। इन तीनों हीं संस्कारों का भावना–वासना-संस्कार में अन्त–र्भाव है। कर्म्मजनित संस्कार वासनाप्रधान हैं, ज्ञानजनित संस्कार भावनाप्रधान है, एवं शब्दजनितसंस्कार उभयप्रधान है। इन तीनों में मूल शब्दजनित संस्कार ही है। ज्ञान में भी शब्द अनुस्यूत है, एवं कर्म्म में भी शब्द अनुस्यूत है। दोनों हीं में शब्द सहायक बनता है। ज्ञान से काम लेने वाला एक विद्वान् भी अपनी ज्ञानीय कल्पनाओं में शब्द को ही मूलाधार बनाता है। कर्म्मप्रधान एक मजदूर भी कर्म्म करते समय शब्द का आश्रय लेता देखा गया है। प्रासादादि निर्म्माणकाल में मजदूर लोग जब भी कभी कोई बोझल वस्तु उठाते हैं, तो सब के मुख से **'हाँ देखना-सावधान-वाह मेरे शेर-अब क्या है'** ऐसे वाक्यों का प्रयोग करते देखे गए हैं। इस शब्दाश्रय से अवश्य ही उन्हें अपने कर्म्म में सहायता मिलती है। इसी मूलप्रतिष्ठा के कारण शब्दसंस्कार को हम ऋग्वेद मान सकते हैं। क्योंकि प्रतिष्ठा ही सत्ता है, सत्ता ही ऋक् है, यही क्षरभाव है।

—— * ——

कर्म्म में अक्षरप्रधाना चेतना का विकास है। चेतना ज्योति है। ज्योति साम है। फलत; कर्म्मजनित-संस्कार का साममयत्त्व होना सिद्ध होजाता है। ज्ञान अव्ययप्रधान आनन्द का विकास है, आनन्द आत्मा है, आत्मा यजुः है। अतएव हम ज्ञानजनित संस्कार को यजुर्वेद कह सकते हैं। इसीलिए तो ज्ञानीय कल्पना में आनन्द आया करता है। इसप्रकार तीनों में तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है, जैसा कि आगे के परिलेखों से स्पष्ट होजाता है।

१—विषयावच्छिन्नं ज्ञानं—ब्रह्म—(प्रतिष्ठा—सत्ता)—ऋग्वेदः
२—शब्दावच्छिन्नं ज्ञानं—वेदः—(ज्योतिः—चेतना)—सामवेदः } वेदत्रयी
३—संस्कारावच्छिन्नं ज्ञानं—विद्या—(आत्मा—आनन्दः)—यजुर्वेदः

—*—

१—प्रतिष्ठलक्षणे सत्तात्मके ब्रह्मवेदे—ऋग्वेदे-वेदत्रयोपभोगः—

१—नामप्रपञ्च—(वाङ्मयी सत्ता)—प्रतिष्ठा—ऋग्वेदः
२—रूपप्रपञ्च—(मनोमयी चेताना)—ज्योतिः—सामवेदः } —ब्रह्मवेदः-ऋक् [१]
३—कर्म्मप्रपञ्च —(प्राणमय आनन्द)—आत्मा—यजुर्वेदः

—*—

२—ज्योतिर्लक्षणे चिन्मये वेदवेदे—ऋग्वेदे-वेदत्रयोपभोगः—

१—पद्यात्मक शब्दप्रपञ्च—(वाङ्मयी क्षरप्रधाना सत्ता)—प्रतिष्ठा—ऋग्वेदः
२—गानात्मक शब्दप्रपञ्च—(प्राणमयी अक्षरप्र० चेतना)—ज्योतिः—सामवेदः } —वेदवेदः—साम [२]
३—गद्यात्मक शब्दप्रपञ्च—(मनोमय अव्ययप्र० आनन्द)—आत्मा—यजुर्वेदः

३—आत्मलक्षणे आनन्दमये विद्यावेदे—यजुर्वेदे-वेदत्रयोपभोगः—

१—शब्दावच्छिन्न संस्कार—(वाङ्मयी सत्ता)—प्रतिष्ठा—ऋग्वेदः
२—कर्म्मजनित संस्कार—(प्राणमयी चेतना)—ज्योतिः—सामवेदः } —विद्यावेदः—यजुर्वेदः [३]
३—ज्ञानजनित संस्कार—(मनोमय आनन्द)—आत्मा—यजुर्वेदः

—*—

अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-परात्पर की समष्टिरूप चतुष्पाद् ब्रह्म ही कारणभूत आत्मा है। आत्मक्षर की दृष्टि से वही आत्मब्रह्म सृष्टि का **उपादान** कारण है, अक्षर की दृष्टि से वही आत्मब्रह्म **निमित्त** कारण है, अव्ययदृष्टि से वही आत्मब्रह्म **आलम्बन** कारण है। एवं परात्परदृष्टि से वही आत्मब्रह्म कार्य-कारणातीत है। इस कारणभूत आत्मब्रह्म से स्थूलसृष्टि की मूलभूता क्रमशः **ब्रह्म-नामरूप-अन्न-नामकी-ब्रह्म-वेद-विद्या-** इन तीन सृष्टियों का विकास होता है। इन्हीं तीनों का उपबृंहण यह विश्व है। इस विश्व में आगे जाकर अग्नीषोमात्मक चारों विश्ववेदों का विकास होने वाला है। इससे पहिले पहिले का सम्पूर्ण वेदविवर्त्त आत्मकोटि में हीं अन्तर्भूत है। इसी प्रकृतिसिद्ध वेदावतार-क्रम को लक्ष्य में रखकर हमने अनेक दृष्टियों से पहिले सच्चिदानन्दलक्षणभूत मूलकारणात्मक आत्मवेद, किंवा आत्मवेदत्रयी का दिग्दर्शन कराया है, इसके पीछे तूलकारणभूत ब्रह्म-वेद-विद्या-लक्षण आत्मवेद का स्वरूप बतलाया है। इसप्रकार आरम्भ से अबतक विश्वगर्भ में सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म-वेद-विद्या-वेदकृतमूर्त्ति सच्चिदानन्दलक्षण आत्मवेद, किंवा मूलवेद का ही निरूपण हुआ है। अब यद्यपि क्रमप्राप्त तूलवेदात्मक अग्नीषोममय विश्ववेद का निरूपण करना चाहिए था, तथापि वेदतत्त्व का स्पष्टीकरण करने के लिए दो चार स्थलों में वेदतत्त्व की व्याप्ति दिखला देना आवश्यक प्रतीत होरहा है। इन कुछ एक वेदसंस्थाओं से, साथ ही में पूर्वप्रतिपादित वेद के तात्त्विक-स्वरूप से वेदभक्तों को यह मान लेने में अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहेगा कि, वेद वास्तव में वेद एक तत्त्वविशेष है, जो कि आत्मवत् सर्वत्र व्याप्त है। वेदग्रन्थ वेद नहीं है, वेदग्रन्थ तो वेदतत्वप्रतिपादक शब्दशास्त्रमात्र है। आगे के वेदप्रकरण में उदाहरणरूप से निम्नलिखित ७ संस्थाओं का ही संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जायगा।

(१२) १—पर्ववेदनिरुक्तिः

(१३) २—भावनावेदनिरुक्तिः

(१४) ३—भाववेदनिरुक्तिः

(१५) ४—दिग्वेदनिरुक्तिः

(१६) ५—देशवेदनिरुक्तिः

(१७) ६—कालवेदनिरुक्तिः

(१८) ७—वर्णवेदनिरुक्तिः

इति—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ ब्रह्म—विद्या—वेद—भिन्ना— ज्ञानलक्षणा—आत्मवेदनिरुक्तिः

११

——*——

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
ब्रह्म–विद्या–वेद–भिन्ना-
ज्ञानलक्षणा–आत्मवेदनिरुक्तिः
११

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

(१)-पर्ववेदनिरुक्तिः–प्रकीर्णभावापन्ना

१२

श्रीः

अथ—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(१)-पर्ववेदनिरुक्तिः—प्रकीर्णभावापन्ना
१२

—*—

क्रमप्राप्त १२ इस 'पर्ववेद' का प्रधानरूप से 'त्रयीवेद' के साथ ही सम्बन्ध समझना चाहिए। त्रयीवेद की मूलप्रतिष्ठा अग्नितत्त्व है, जैसाकि पाठक आगे के प्रकरणों में देखेंगे। असंख्य–व्यष्टियों को अपने गर्भ में रखने वाले महासमष्टिरूप महाविश्व का मौलिक स्वरूप सोमगर्भित अग्नितत्त्व ही माना गया है, जैसाकि निम्न लिखित 'बृहज्जाबाल' सिद्धान्त से स्पष्ट है—

> अग्ने रमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ॥
> अतएव हविःक्लृप्त–"मग्नीषोमात्मकं जगत्"
> ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम अधःशक्तिमयोऽनलः
> ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥२॥

उक्त उपनिषद्दर्शन के अनुसार समष्टिरूप महाविश्व, एवं विश्व के गर्भ में प्रतिष्ठित व्यष्टिरूप चर-अचर–पदार्थ अग्नि-सोम के ही सम्पुटितरूप हैं, जिनका कि—"शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह–किञ्चन" इत्यादि रूप से 'उमामहेश्वर' के दाम्पत्यरूप पर विश्राम माना गया है। इसी दाम्पत्यभाव का प्रश्नोपनिषत् ने रयि-प्राण, तथा योषा-वृषा रूप से स्पष्टीकरण किया है। ब्राह्मणरहस्यवेत्ता महर्षि इसे ही अपनी याज्ञिक परिभाषा में आर्द्र–शुष्क, स्नेह–तेज, आज्य–पृष्ठ, इत्यादि नामों से व्यवहृत कर रहे हैं।

तात्पर्य्य यही हुआ कि, सोमगर्भित अग्निमूर्त्ति विश्व एक महावेद है, एवं विश्वगर्भ में रहने वाला प्रत्येक पदार्थ एक एक अल्पवेद है। 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्राह्मण) के अनुसार इन व्यष्ट्यात्मक अनन्त वेदों को अपने गर्भ में रखने वाले अग्नीषोममय महाविश्वात्मक उसी महावेद को विश्वव्यापक विश्वात्मा का शरीर माना गया है, जैसाकि उसके "वेदमूर्त्ति" नाम से स्पष्ट है। यद्यपि इस वेदमूर्त्ति में अग्नि–सोम, दोनों तत्त्वों का समन्वय है, तथापि "अत्त्यैवाख्यायते नाद्यम्" (शत० ११।६।५।१।) इस वाजिसिद्धान्त के अनुसार आद्य (अन्न) लक्षण सोमगर्भित अत्ता (अन्नाद) लक्षण अग्नि को ही उसका प्रातिस्विक स्वरूप मान लिया गया है। इसी दृष्टि से हम उस महासमष्टि को, एवं समष्टि के गर्भ में प्रतिष्ठित व्यक्तियों को केवल 'अग्नि' शब्द से ही सम्बोधित करना उचित समझते हैं। आगे जाकर यही अग्नितत्त्व हमारे प्रकृत 'पर्ववेद' की आधारभूमि बनता है।

पूरणार्थक **'पर्व'** धातु ('पर्व' पूरणे भ्वा० प० से०) से बाहुलकात् 'कनिन्' होने से **'पर्वन्'** शब्द निष्पन्न हुआ है। फलतः पर्व शब्द का अर्थ होता है—कमी पूरा करने वाला। शरीर के अङ्गों का जबतक यथावत् सञ्चालन होता रहता है, तभीतक शरीरयष्टि की रक्षा रहती है, एवं तभीतक शरीर की कमी पूरी होती रहती है। अस्थि-मज्जा-शुक्र-शोणित आदि व्यष्टियाँ हीं शरीरसमष्टि की पूरिका, एवं रक्षिका मानीं गईं हैं। व्यक्तिरक्षा ही समाज, किंवा राष्ट्ररक्षा का मूलमन्त्र है। व्यक्तियों के प्रयास से ही समाज की आवश्यकताएँ पूरीं होतीं हैं, एवं इन्हीं आवश्यक-सामग्रियों से समाज अपने स्वरूप की रक्षा करने में समर्थ होता है। अतएव 'पिपर्त्तीति-(पॄ-पालन-पूरणयोः-जु० प० से) इस कोशनिरुक्ति के अनुसार उस वस्तु को पर्व कहा जाता है, जिसके द्वारा तत्तद्वस्तुविशेषों का समष्टि-व्यष्टिरूप से पालन होता रहता है, कमी पूरी होती रहती है।

समष्टिरूप महाविश्व की रक्षा के लिए भी अवश्य ही 'पर्व' नाम की ऐसी कोई वस्तु होनी चाहिए, एवं विश्व के गर्भ में प्रतिष्ठित व्यष्टिरूप पदार्थों के लिए भी अवश्य ही किसी पूरक, तथा रक्षक की अपेक्षा होनी चाहिए। वही पूरक रक्षक तत्त्व 'पर्व' कहलाएगा।

शरीर के अङ्ग अपनी धातु-प्रस्रवणक्रिया के द्वारा शरीर के रक्षक-पूरक बनते हुए शरीर के पर्व हैं। उत्सवविशेषों से सम्बन्ध रखने वालीं तिथियाँ दैवाराधन के द्वारा, मानसोल्लास के द्वारा, आदि दृष्टियों से समाज में जीवनस्रोत, तथा आत्मशक्तिसञ्चार करने के कारण पर्व हैं। सम्पूर्ण खगोल की मूलप्रतिष्ठा बनता हुआ विष्वद्वृत्त खगोल का रक्षक तथा पूरक बनता हुआ पर्व है। इसप्रकार अपनी रक्षावृत्ति, और पूरकवृत्ति से पर्वशब्द अनेक भावों का वाचक बना हुआ है।

महाविश्व भी सोमगर्भित अग्निमय, विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित व्यष्टियाँ भी एतद्रूप हीं, परिणामतः दोनों के स्वरूप की **'अग्नि'** तत्त्व पर ही विश्रान्ति। विश्वस्वरूपरक्षक इस अग्नितत्त्व की रक्षा जिन भावों से होरही है, उन्हीं को हम अग्निपर्व कहेंगे। वे ही अग्निपर्व विज्ञानभाषा में **उक्थ-पृष्ठ--ब्रह्म-इन** नामों से व्यवहृत हुए हैं। इन्हीं तीन पर्वों के सम्बन्ध से अग्नितत्त्व त्रयीवेदस्वरूप में परिणत होरहा है। इसी दृष्टि को प्रधान रखता हुआ यह त्रयीवेद **'पर्ववेद'** कहलाया है।

जैसाकि विषयारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है, सभी पदार्थ अग्निपदार्थ हैं। यह अग्नितत्त्व उक्थ-पृष्ठ-ब्रह्म, इन तीन पर्वों से सदा युक्त रहता है, यह भी कहा जासकता है, एवं ये तीनों उस एक ही अग्नितत्त्व की तीन विशेष अवस्थाएँ है, यह भी माना जासकता है। उभयथा तात्पर्य्य समान है। किसी भी वस्तु को ले लीजिए। अवश्य ही उस वस्तु का आप एक उपक्रम-(आरम्भ)-स्थान स्वीकार करेंगे। जहाँ से वस्तु का आरम्भ होता है, वस्तुरूप का उपक्रम होता है, वही उपक्रमस्थान 'उक्थ' कहलाता है। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार दीपार्चि (लौ) प्रकाश का, वागिन्द्रिय शब्दों का, मेघ वृष्टि का, पृथिवी ओषधि-वनस्पतियों का, लेखिनी लिपि का, न्यायाध्यक्ष (जज) न्याय (जज्मेन्ट) का, गुरु उपदेश का, पुण्य सुलोकों का, पाप अधोलोकों का, निष्कामभाव विदेहमुक्ति का, अध्वर्यु आध्वर्य्यकर्म्म का, होता हौत्रकर्म्म का, उद्गाता औद्गात्रकर्म्म का उक्थ माना जायगा। विश्व के समष्टि-व्यष्ट्यात्मक यच्चयावत् जड़चेतन पदार्थ अपने अपने आरम्भस्थान की दृष्टि से "उक्थ" रूप से उपलब्ध होंगे।

अग्निप्रधान प्रत्येक पदार्थ का आरम्भस्थान उस पदार्थ का हृदय (केन्द्र-गर्भ) ही माना गया है । हृदय ही उस वस्तु का आरम्भस्थान है । क्योंकि हृदय से ही वस्तु प्रस्तुत होती है, अतएव इसे 'प्रस्ताव' भी कहा जाता है । उत्तालतरङ्गायित आज की अमर्य्यादित–सभाओं में प्रस्ताव नाम की जो लम्बी चौड़ी वस्तु सुनी जाती है, (जो कि वस्तु अपने आगे के पृष्ठ-ब्रह्म, इन दो पर्वों से शून्य रहती हुई सर्वथा निरर्थक सिद्ध हो रही है) उसका भी इसी उक्थ पर पर्य्यवसान है । किसी भी विषय का आरम्भ करने वाले व्यक्ति का जो उपक्रम–बीज है, वही प्रस्ताव है ।

हृदयस्थानीय प्रस्तावबिन्दु, किंवा आरम्भस्थान ही तत्तद्वस्तुओं का 'उक्थ' माना जायगा । यही अग्निरूप वस्तु का, किंवा वस्तुगत अग्नितत्त्व का प्रथम, एवं मुख्यपर्व कहा जायगा । और इसी 'उक्थ' पर्व को हम 'ऋक्' कहेंगे । स्तुत्यर्थक 'ऋच्' (ऋचि-स्तुतौ) ही 'ऋक्' है । स्तुति शब्द प्रस्ताव का ही सूचक है । प्रस्ताव आरम्भस्थान का ही द्योतक है । आरम्भस्थान वस्तु का हृदय ही माना गया है । एवं वस्तुगत यच्चयावत् भावों का प्रभव बनता हुआ हृदयपर्व ही उस वस्तु का 'उक्थ' (उत्थानभूमि) है ।

'आरम्भ' शब्द सर्वथा सापेक्षभाव से सम्बन्ध रखता है । वियोग की अपेक्षा रखने वाला संयोग शब्द, पतन की अपेक्षा रखने वाला समुच्छ्रय शब्द, एवमेव अवसान की अपेक्षा रखने वाला आरम्भ शब्द है । प्रस्ताव वस्तु का आरम्भ है, तो **निधन** वस्तु का अवसान है । प्रस्तावात्मक आरम्भ शब्द से बद्ध निधनात्मक अवसानशब्द वस्तुस्वरूप के नाश का द्योतक नहीं है । वस्तु के उच्छेदरूप नाश का वाचक तो केवल 'मृत्यु' शब्द ही माना गया है । यहाँ अवसान से वह मृत्युभाव अपेक्षित नहीं है । अपितु वस्तुस्वरूप की विद्यमानता में वस्तु का जो अन्तिम आवरण है, वही प्रकृत में अवसान, किंवा निधनशब्द से अभिप्रेत है । जिसे याज्ञिकभाषा में 'छन्द' कहा जाता है, विज्ञानभाषा में जिसे '**वयोनाध**' कहा जाता है, सामपरिभाषा जिसे '**निधन**' कहती है, पृष्ठविज्ञानवेत्ता जिसे '**पारावतपृष्ठ**' कहते हैं, अवसान से वही तत्त्व अभिप्रेत है । वस्तु का उपक्रम यदि हृदय है, तो उपसंहार अन्तिम वयोनाध है ।

वस्तु की वही बाह्य–सीमा, जहाँ वस्तु-स्वरूप समाप्त है, 'पृष्ठ' नाम से प्रसिद्ध है । प्रस्ताव-भाव के सम्बन्ध से हृदयरूप आरम्भस्थान जैसे 'उक्थ' कहलाता है, वैसे निधनभाव के सम्बन्ध से परिधिरूप अवसानस्थान 'पृष्ठ' कहलाता है । उक्थ जहाँ अपने प्रस्तावभाव से ऋक् कहलाता है, एवमेव पृष्ठ अपने निधनभाव से साम कहलाता है । अवसान ही अवसाम है, अवसाम ही साम है, साम ही आत्मविभूति का अन्तिम विश्रामस्थान है । निष्कर्षतः वस्तु का हृदय उक्थ है, वस्तु की परिधि पृष्ठ है । आरम्भबिन्दु उक्थ है । अवसानस्थान पृष्ठ है । उक्थ प्रस्तावात्मिका ऋक् है, पृष्ठ निधनात्मक साम है । इस ओर ऋक् है, उस ओर साम है । आरम्भ ही वस्तु का अवसान है । जो हृदय है, वही परिधि है । मूल में हृदय कहलाने वाला भाव ही तूलरूप में आकर परिधि कहलाने लगता है । अनिरुक्तभाव उक्थ है, निरुक्तभाव परिधि है ।

संकोच उक्थ है, विकास परिधि है। अवस्था दो हैं, मूलतः एक ही तत्त्व है। ऋक् ही तो त्रिच बनकर साम कहलाने लगता है। 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते' सिद्धान्त के अनुसार ऋक् पर आरूढ होकर ही तो सामगान होता है। हृदयावच्छिन्न विष्कम्भ (व्यास) रूप ऋक् का त्रिगुणित भाव ही तो परिधिरूप साम है। 'त्रिवं साम'-ऋचा समं मेने तस्मात् साम' सिद्धान्त इसी रहस्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

हृदयरूप उक्थपर्व, एवं परिधिरूप पृष्ठपर्व, दोनों हीं एक प्रकार से वयोनाध (छन्द) मात्र हैं। 'अयं घटः, तमहं जानामि' इस रूप से घट–पटादि पदार्थों की जो प्रतीति हुआ करती है, उसे ही 'भाति' कहा जाता है। हृदय शब्द जैसे परिधिभाव की नित्य अपेक्षा रखता है, एवमेव हृदय, और परिधि दोनों शब्द किसी अन्य सत्तासिद्ध पदार्थ की अपेक्षा रखते हैं। किसी सत्तासिद्ध पदार्थ में ही हृदय और परिधि प्रतिष्ठित रहेंगे। वस्तु का हृदय होता है, वस्तु की परिधि होती है। किंवा वस्तु में हृदय होता है, वस्तु में परिधि होती है। स्वयं हृदय और परिधि वस्तु नहीं है। ये दोनों भाव तो वस्तुस्वरूप के सम्पादक, पूरक तथा रक्षक हैं। हमारी भाति (प्रतीति-प्रत्यय-ज्ञान-उपलब्धि) का विषय न तो हृदय बनता, न परिधि। अपितु हृदय-परिधि से युक्त एक सत्तासिद्ध रसात्मक तीसरे ही पदार्थ की भाति होती है। जिस की हमें भाति होती है, वह सत्तासिद्ध पदार्थ है, वही वास्तव में बस्तुशब्दवाच्य है।

जिसका हृदयरूप उक्थ है, जिसका परिधिरूप पृष्ठ है, उक्थ–पृष्ठ के मध्य में प्रतिष्ठित वही सत्तासिद्ध भातिविषयक पदार्थतत्त्व 'ब्रह्म' कहलाता है। हृदय-परिधिभावों से सीमित बनता हुआ रसभाव ही अपने उपबृंहणधर्म्म से, तथा भरणवृत्ति से 'ब्रह्म' कहलाया है। मध्यस्थित सत्तारसात्मक यह तीसरा अग्निपर्व क्योंकि उपक्रम उपसंहार-स्थानीय उक्थ–पृष्ठों से नित्य युक्त रहता है, अतएव इसे हम अवश्य ही 'यजुः' कह सकते हैं। 'ऋक्–साम–यजुः' ही क्रमशः अग्नितत्त्व के उक्थ–पृष्ठ–ब्रह्म--नामक तीन पर्व हैं।

उक्त तीनों पर्व हीं अग्निमूर्त्ति वस्तु के पूरक, तथा रक्षक बनते हुए पर्व नाम से प्रसिद्ध होरहे हैं। विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नही, जिसमें सोमगर्भित अग्नि की प्रधानता न हो। ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें अग्निस्वरूप-रक्षक उक्त तीनों पर्व न हों। प्रत्येक में तीनों पर्व अविनाभावसम्बन्ध से बिना किसी व्यभिचार के परस्पर उपकार्य–उपकारक बनते हुए, अन्योऽन्याश्रित रहते हुए नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। हृदय-परिधि–हृदयपरिधि से युक्त वस्तुतत्त्व, तीनों भाव आपको पदार्थमात्र में उपलब्ध होंगे। इन्हीं तीनों पर्वों की समष्टि को 'पर्ववेद' कहा जायगा। जिस तत्त्व के ये तीन पर्व होंगे, वही 'त्रयीवेद' माना जायगा, और पर्वदृष्टि से आप सम्पूर्ण विश्व में इस वेदत्रयी का साम्राज्य देखेंगे।

पर्ववेदसंस्था-परिलेखः—

प्रथमं पर्व	द्वितीयं पर्व	तृतीयं पर्व
हृदय	सत्तारस	परिधि
उपक्रम	प्रक्रान्त	उपसंहार
प्रस्ताव	उद्गीथ	निधन
आरम्भ	मध्यस्थ	अवसान
वयोनाध	वय	वयोधान
छन्द	छन्दित	छन्द
विष्कम्भ	मूर्त्ति	परिणाह
उक्थ	ब्रह्म	पृष्ठ
ऋग्वेदः	यजुर्वेदः	सामवेदः

श्रीः

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(१)-"पर्ववेदनिरुक्तिः"--प्रकीर्णभावापन्ना
१२

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

(२)–"भावनावेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना

१३

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

(२)–"भावनावेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना

१३

---*---

सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान–कर्म्म नाम के दो तत्वों का का ही साम्राज्य है, जैसा कि पूर्व–प्रकरणों में यत्र तत्र स्पष्ट किया जाचुका है। कर्म्मगर्भित ज्ञानतत्त्व 'विश्वात्मा' है, एवं ज्ञानगर्भित कर्म्मतत्त्व 'विश्व' है। दूसरे शब्दों में–विश्वात्मा ज्ञानप्रधान है, विश्व कर्म्मप्रधान है। कर्म्मप्रधान विश्व ज्ञानप्रधान विश्वात्मा की नियति से नित्य सञ्चालित है। उसी की अप्रहितप्रेरणा से विश्व के समष्टि-व्यष्टि–कर्म्मों का सञ्चालन होरहा है। उसी प्रेरणा के भय से सूर्य्य, चन्द्रमा, वायु अग्नि, मृत्यु, वरुण आदि विश्व–पर्वों को कर्म्मों के उपक्रम-उपसंहार का अनुगामी बनना पड़ रहा है। उसी की प्रेरणा के भय से तत्तल्लोकों में रहने वाले अस्मदादि प्राणी तत्तत् कर्म्मविशेषों में आरुढ़ रहते हैं। विश्व, एवं विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित कोई भी ऐसा पदार्थ बाकी नहीं बचा, जिसने उस महाकालपुरुष के अव्यर्थ कालदण्ड के शासन का उल्लंघन किया हो। जिधर देखिए, उधर वही कर्म्मधारा–प्रवाह। जहाँ जाइए, वहीं कर्म्मभावना के प्रत्यक्षदर्शन। और जिस वस्तु का अन्वेषण कीजिए, उसी में कर्म्मभावनामूलक वेदतत्त्व की उपलब्धि।

हम पद पद पर 'भावना' शब्द का अभिनय किया करते हैं। कभी हमारे ज्ञानीय–जगत् में सूर्य्य की भावना होती है, कभी चन्द्रमा की, कभी पृथिवी की, कभी अन्न की, कभी पशु–पक्षियों की, कभी सेवाभाव (नौकरी) की, कभी अध्ययनाध्यापन की, कभी शयन की, कभी जागृति की, कभी सुख की, कभी दुःख की कभी मूर्खता की, कभी विद्वत्ता की, कभी चलने की, तो कभी बैठने की। इसप्रकार हमारा सम्पूर्ण ज्ञान किसी न किसी भावना से नित्य ही आक्रान्त रहता है। प्रश्न होता है कि, यावज्जीवन एक महा अम्ब, महा यक्ष की भाँति पीछे पड़ी रहने वाली इस कर्म्मभावना, एवं ज्ञानभावना का तात्विक स्वरूप क्या है ?।

यदि कोशकारों से उक्त प्रश्न का उत्तर पूँछा जाता है, तो वे उत्तर में सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय, चेष्टा, आत्मजन्म, क्रिया, विभूति, बन्धु इत्यादि विविध भागों को हमारे सामने रख देते हैं। व्याकरणशास्त्र से यदि पूँछा जाता है, तो वह भी '**भावो भावना क्रिया०**' यह कहता हुआ कोश के साथ ही एकवाक्यता कर लेता है। उत्तर ठीक नहीं है, यह बात नहीं है। अवश्य ही सत्ता–स्वभावादि भाव, किंवा भावनारूप हैं, एवं अवश्य ही क्रियाविशेष को ही भावना कहा जासकता है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि, भावना से वह कौनसा अर्थ गृहीत है, जो कि वेदत्रयी का साधक बनता हुआ 'भावनावेद' की प्रतिष्ठा बना हुआ है ?, इस वेददृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले भावनापदार्थ के स्पष्टीकरण के लिए अवश्य ही किसी वैदिक–सिद्धान्त का ही अनुगमन करना पड़ेगा, एवं वही अनुगमभाव कहलाएगा–'क्रतु-दक्ष'।

सत्ता हो, स्वभाव हो, अभिप्राय हो, चेष्टा हो, आत्मजन्म हो, क्रिया हो, किंवा विभूति हो, अथवा कर्म्मप्रधान विश्व का कोई भी किसी भी जाति का पर्व हो, सर्वत्र सबकी भावना में हमें क्रतु–दक्ष, ये दो ही पर्व मिलेंगे। 'हम अमुक पदार्थ की सत्ता की अमुक व्यक्ति के स्वभाव की, अभिप्राय की, चेष्टा की, आत्मजन्म की, क्रिया की, विभूति की भावना कर रहे हैं" इन सब वाक्यों में "भावना कर रहे हैं" इन सभी वाक्यों में क्रतु-दक्ष-भावों का ही सम्मिश्रण है। प्रत्येक भावना, चाहे वह किसी पदार्थ की हो, किसी विचार की हो, किसी कर्म्म की हो, क्रतु–दक्ष को गर्भ में रख कर ही प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में क्रतु–दक्ष-भावों के समन्वितरूप का ही नाम "भावना" है। यदि किसी में केवल क्रतु है, तो वह भी भावना नहीं। केवल दक्ष है, तब भी भावना नहीं। दोनों एकत्र समन्वित होकर ही भावना के स्वरूप-सम्पादक बनते हैं। एवं साथ ही में यह भी निश्चित है कि, दोनों के समन्वय से जिस 'भावना' की स्वरूपनिष्पत्ति होती है, अवश्य ही उसमे ऋक्–साम–यजुर्म्मयी वेदत्रयी का विकास होजाता है। और इसीलिए क्रतु-दक्ष-मयी भावना को हम "भाववेद"–किंवा "भावनावेद" कहने लगते हैं। हम जिन भावों की भावना करते हैं, सब में क्रतु–दक्ष-द्वन्द्व प्रतिष्ठित है। फलतः भावनादृष्टि से भी भावनाभावित यच्च–यावत् वस्तुभावों का वेदत्व सिद्ध होजाता है। भावना से सम्बन्ध रखने वाले क्रतु–दक्षभावों का क्या स्वरूप ?, इसी प्रश्न का रहस्यात्मक समाधान करती हुई निम्नलिखित वाजिश्रुति हमारे सामने आती है—

"क्रतूदक्षौ ह वाऽस्य मित्रावरुणौ। एतन्नु–अध्यात्मम्। स यदेव मनसा कामयते-इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय, इति–स एव क्रतुः। अथ यदस्मै तत् समृध्यते, स दक्षः। मित्र एव क्रतुः, वरुणो दक्षः। ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः। अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः। ते हैतेऽअग्रे नानेवासतुः–ब्रह्म-च क्षत्रं च। ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात् स्थातुम्। न क्षत्रं वरुण ऋते ब्रह्मणो मित्रात्। यद्ध किञ्च वरुणः कर्म्म चक्रे–अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समानृधे। स क्षत्रं वरुणो ब्रह्म मित्रमुपम–न्त्रयाञ्चक्रे–उप मा वर्त्तस्व, संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूतः कर्म्म करवै !, इति। तथेति। तौ समसृजेताम्। तत एष मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत्।

सोऽएव पुरोधा। तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत। सं ह्येतौ सृजेते, सुकृतं च दुष्कृतं च। नोऽएव क्षत्रियः सर्वमिव ब्राह्मणं पुरोदधीत। सं ह्येवैतौ सृजेते, सुकृतं च दुष्कृतं च। स यत्ततो वरुणः कर्म्म चक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, संहैवा–स्मै तदानृधे।

तत्तदवक्लृप्तमेव, यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्। यद्यु राजानं लभेत-समृद्धं तत्। एतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं, यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति। यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समृध्यते। तस्मादु क्षत्रियेण कर्म्म करिष्यमाणेन उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः। सं हैवास्मै तद् ब्रह्म प्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते"।

—शत० ब्रा० ४ कां०। १ अ०। ४ ब्रा० १–२–३–४–५–६ कण्डिका।

"क्रतु—दक्ष इस (यज्ञपुरुषलक्षण दैवात्मा) के मित्र और वरुण हैं। (वक्ष्यमाण) अध्यात्म (से सम्बन्ध
ता) है। सो जो कि (मनुष्य) मन से कामना करता है—"(मैं) यह करूँ" यह (कामना ही) क्रतु है। इस
ममय) पुरुष के लिए जो कार्य्य (कामनानुसार) सम्पन्न होजाता है, वह दक्ष है। मित्र ही क्रतु (संकल्प—
द्धि) दक्ष है। ब्रह्म (कामनामयी ज्ञानशक्ति) ही मित्र है, क्षत्र (सिद्धिमयी, किंवा कर्म्ममयी क्रियाशक्ति) ही
ण है। अभिगन्ता (पथप्रदर्शक—पहिले आगे आगे चलने वाला) ही ब्राह्मण है, कर्त्ता (निर्दिष्ट पथ पर चलने
ला) ही क्षत्रिय है। ये दोनों ब्रह्म और क्षत्र पहिले पृथक पृथक् से ही थे। उस (पार्थक्य) दशा में मित्र
ह्मण (तो बिना क्षत्रिय वरुण के (स्वस्वरूप से) रहने में समर्थ होगया। परन्तु क्षत्र वरुण बिना मित्र ब्रह्म
स्वस्वरूपरक्षा में समर्थ न होसका। मित्र ब्रह्म की आज्ञा के बिना क्षत्र वरुण ने जो भी कर्म्म किया, वह
ई भी कर्म्म इस वरुण के लिए समृद्धि का कारण नहीं बन सका। (यह देखकर) वरुण ने मित्र ब्राह्मण से
नवेदन किया कि, आप मेरी ओर लौट आइए, अपन दोनों मिल जायँ, आपको मैं आगे रक्खूँ, आप जैसा
गदेश दें, उसी के अनुसार मैं कर्म्म करूँ। ब्रह्म मित्र ने 'ऐसा ही हो' आश्वासन दिया। दोनों मिल
ए। इन दोनों के मिलने से (आध्यात्मिकसंस्था में ब्रह्म—क्षत्ररूप) 'मैत्रावरुण' नामक ग्रह उत्पन्न हुआ।

मित्र ब्राह्मण (क्षत्रिय के स्वरूप में घुलमिल जाने वाला) ही पुरोहित है। अर्थात् जो ब्राह्मण
जिस यजमान का पुरोहित होता है, उसके गुण-दोष ब्राह्मण में संश्लिष्ट होजाते हैं, इसलिए ब्राह्मण को चाहिए
कि, वह बिना गुण दोष की की परीक्षा किए जिस किसी क्षत्रिय का ही पुरोहित बनने की इच्छा न करे। कारण,
दोनों के सुकृत—दुष्कृत (पाप—पुण्य) परस्पर में मिल जाते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय को भी चाहिए कि,
वह भी चाहे जिस ही ब्राह्मण को अपना पुरोहित न बना बैठे। कारण, दोनों के सुकृत दुष्कृत मिल जाते हैं।
जब वरुण क्षत्रिय ने ब्राह्मण मित्र के आदेशानुसार कर्म्म किया, तो क्षत्रिय के लिए वह कर्म्म समृद्धि का
कारण बन गया।

यह बात तो बनी बनाई है कि, ब्राह्मण बिना क्षत्रिय राजा के सहयोग के भी अपने स्वरूप की रक्षा
करने में समर्थ होजाता है। यदि ब्राह्मण को राजा का सहयोग मिल जाता है, तो उसका विकास होजाता है।
परन्तु यह बात सर्वथा अप्राकृतिक है, यदि क्षत्रिय ब्राह्मण का सहयोग न करे, और फिर उसकी स्वरूप—रक्षा
होजाय। क्षत्रिय बिना ब्राह्मण के सहयोग के जो भी कर्म्म करेगा, अवश्य ही उसके लिए वह कर्म्म कभी
समृद्धि का कारण नहीं बनेगा। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि, कर्म्म करने वाला क्षत्रिय अवश्य ही
किसी ब्राह्मण को अपना आश्रय (पथप्रदर्शक) बनावे। ऐसा करने से दोनों (शक्तिएँ) मिल जाते हैं,
ब्राह्मण से निर्दिष्ट कर्म्म अवश्य ही सफल एवं सुसमृद्ध होजाता है"।

सुप्रसिद्ध "ग्रहयाग" में 'उपांशु—अन्तर्याम—उपांशुसवन—ऐन्द्रवायव—मित्रावरुण' आदि ४० ग्रह
होते हैं, जिनका कि विशद वैज्ञानिक विवेचन शथपथब्राह्मण के ग्रहकाण्ड में (चतुर्थकाण्ड) में हुआ है।
उन्हीं ग्रहों में आध्यात्मिक क्रतु—दक्षभावों से सम्बन्ध रखने वाला एक मित्रावरुणग्रह है। उक्त श्रुति ने
इसी के आध्यात्मिक रहस्य का विश्लेषण किया है, जो कि शतपथविज्ञानभाष्य के उक्त काण्ड में ही
द्रष्टव्य है।

प्रकृत में श्रुति के उदाहरण से हमें केवल यही कहना है कि, प्रत्येक कर्म्म की सिद्धि में प्रेरणा—
कर्म्म—कर्म्मसिद्धि, ये तीन पर्व होते हैं। उदाहरण के लिए उस यज्ञकर्म्म को ही लीजिए, जिसके सम्बन्ध में

उक्त श्रुति उद्धृत हुई है। यज्ञ करने वाला यजमान ही प्रधानरूप से यज्ञकर्म्म का आश्रय है। यज्ञकर्म से दैवात्मारूप जो अतिशय उत्पन्न होता है, उसका अन्यतम फलभोक्ता एकमात्र यजमान ही है। परन्तु जबतक कर्म्मकर्त्ता यजमान अपने इस यज्ञ कर्म्म में होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि ब्राह्मण-ऋत्विजों का वरण नहीं कर लेता, दूसरे शब्दों में जबतक वह अपने कर्म्म में इन ब्राह्मणों का सहयोग प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक कभी यह कर्म्मसिद्धि, एवं तज्जनित कर्म्मातिशय का अधिकारी नहीं बन सकता। इसी विप्रतिपत्ति को हटाने के लिए इसे विवश होकर ब्राह्मणों को पुरोहित बनाना पड़ता है। वे जो जो आदेश देते हैं, यजमान को ठीक उस उस के अनुसार ही यज्ञेतिकर्त्तव्यता का अनुगमन करना पड़ता है।

ऋत्विक् ब्राह्मण अपनी शास्त्रीय दृष्टि के बल पर कर्म्मों का परिणाम समझे रहते हैं। वे जानते हैं कि, कौन कर्म्म, कब, कैसे करने से क्या अतिशय उत्पन्न करता है ?। कर्म्म-परिणाम-दर्शी यह ब्राह्मण उसी परिणाम को अपने लक्ष्य में रखता हुआ यथावसर कर्म्मकर्त्ता यजमान को-'इदं कुरु, एवं कुरु' (यह करो, ऐसे करो) इसप्रकार आदेश देता रहता है। आदिष्ट यजमान कर्म्म करता रहता है। कालान्तर में प्रदर्शक आदिष्ट ब्राह्मण एवं यजमान के सहयोग से कर्म्म का स्वरूप सिद्ध होजाता है। इसप्रकार यज्ञकर्म्म में ब्राह्मण, यजमान का कर्म्म, कर्म्मसिद्धि, तीन पर्व होजाते हैं। ब्राह्मण क्योंकि कर्म्मोत्थान का आरम्भस्थान है, अतएव इसे **'कर्म्मोपक्रम'** कहा जा सकता है। कर्म्मसिद्धि कर्म्म का अवसानस्थान है, अतः इसे **'कर्म्मोपसंहार'** माना जासकता है। एवं दोनों के मध्य में सञ्चालित स्वयं यज्ञकर्म्म **'कर्म्ममध्य'** कहा जासकता है।

यज्ञकर्म्म उदाहरणमात्र है। संसार, के ओर ओर जितने भी कर्म्म हैं, सब में यही अवस्था समझनी चाहिए। एक निश्चित सिद्धान्त है कि, प्रत्येक कर्म्मसंस्था में, चाहे वह ऐहलौकिक हो, अथवा पारलौकिक, आवश्यकरूप से ब्रह्म-क्षत्र-दोनों का समन्वयलक्षण, पारस्परिक सहयोगलक्षण योग अपेक्षित है। गृहस्थकर्म्म को ही लीजिए। गृहस्थ का सर्ववृद्ध अनुभवी पुरुष ब्रह्म माना जायगा, गृहस्थ के अन्य सब व्यक्ति उस अनुभवी पुरुष के आदेशानुसार स्व स्व कर्म्मों का अनुष्ठान करते हुए क्षत्र कहलाएँगे। अध्ययनसंस्था में गुरु ब्रह्म माना जायगा, विद्यार्थी-गण क्षत्र माना जायगा। राष्ट्रीयसंस्था में विशिष्ट नेता ब्रह्म माना जायगा, नेतृत्वानुगामी राष्ट्रीयदल क्षत्र कहा जायगा। इसप्रकार सभी कर्म्मसंस्थाओं में आप उक्त श्रौतसिद्धान्त का समन्वय देखेंगे।

एक नियम और। जो ब्रह्म होगा, वह कर्म्म में शिथिल रहेगा, जो क्षत्र होगा वह आदेश में शिथिल रहेगा। ब्रह्म भी करेगा अवश्य, परन्तु प्रधानता ज्ञानलक्षण आदेश की ही रहेगी। क्षत्र भी ज्ञान से काम अवश्य लेगा, किन्तु प्रधानता कर्म्माचरण की ही रहेगी। कारण इसका यही है कि, ब्रह्म में ज्ञानशक्ति का प्राधान्य है, और क्षत्रिय में क्रियाशक्ति की प्रधानता है। यदि दोनों में दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास सम्भव होता, तो कभी श्रुति के उक्त सिद्धान्त का आविर्भाव न होता। आज्ञाप्रदान, और तदनुसार काम करना, दोनों के विभिन्न दो क्षेत्र हैं। दोनों के लिए वर्गीकरण प्रत्येक दशा मे वाञ्छनीय है। जब दोनों धर्म्म एक ही व्यक्ति में आजाते हैं, तो वह अपनी स्वाभाविकी अल्पशक्ति से दोनों का बोझा सँभालने में असमर्थ होता हुआ दोनों ही शक्तियों से वञ्चित होजाता है। प्रत्यक्ष में भी ऐसा ही देखा गया है। जो व्यक्ति अहोरात्र ज्ञानचिन्ता में निमग्न रहता है, उससे कभी कर्म्म का निर्वाह नहीं होसकता। यदि आप यह चाहें कि, ज्ञान का अनुगामी अध्ययनशील एक ब्राह्मण ज्ञानचिन्ता के साथ साथ सामाजिक, राष्ट्रीय, लौकिक-कर्म्मों में भी पूर्ण सहयोग देता रहे,

तो आप की इस चाह का कोई मूल्य नहीं होगा । ठीक इसके विपरीत यदि आप कर्म्मव्यस्त व्यक्ति को ज्ञान
की उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित देखना चाहेंगे, तो यह भी आपकी दुराशा ही मानी जायगी । गार्हस्थ्य, सामाजिक,
राष्ट्रीय आदि संस्थाओं को सुरक्षित रखने का, कर्म्मसंस्थाओं को सुसमृद्ध बनाने का एकमात्र यही उपाय है
कि, प्रत्येक संस्था में एक वर्ग आदेश देने वाला रहे, एवं एकवर्ग आदेशानुसार कर्म्म करने वाला रहे । एक कहने
वाला रहे, तो एक सुन कर तदनुसार करने वाला रहे । एक पथप्रदर्शक हो, तो एक तदनुगामी हो । एक ज्ञान-
शक्तिप्रधान हो, तो एक क्रियाशक्ति प्रधान हो । एक उपदेशक हो, तो एक उपदिष्ट हो । एक शासक हो, तो एक
शासित हो, और फिर दोनों एक दूसरे में मिल जाँय । कभी परस्पर एक दूसरे को छोटा बड़ा समझने की भूल न
करें । अपने अपने अधिकार का सदुपयोग करते हुए परस्पर एकरूप से बनकर ही तत्तत् कर्म्मसंस्थाओं का
सञ्चालन करें । वह (ब्रह्म) उसके भावों का आदर करे, यह (क्षत्र) उसको प्रसन्न रक्खे । समृद्धि
निश्चित है, मैत्रावरुणग्रह–प्रतिपादिका उक्त श्रुतिनें इस समृद्धिबीज का ही स्पष्टीकरण किया है ।

वैदिक–परिभाषानुसार हितैषी को + 'मित्र' कहा जाता है, एवं द्वेषी (शत्रु) को 'वरुण' कहा
जाता है । इधर हमने कर्म्म-सम्बन्धी मानससंकल्प को तो 'मित्र' कहा है, और कर्म्मसिद्धि, किंवा संकल्पसिद्धि
को 'वरुण' कहा है । प्रश्न होता है कि, क्या कर्म्मसिद्धि हमारी शत्रु है ?। यदि कर्म्मसिद्धि शत्रु होती, तो
कभी भूल कर भी हम कर्म्म के लिए कर्म्मसंकल्प नहीं करते । ऐसे मित्र का आह्वान कौन बुद्धिमान करेगा, जो
अपने साथ हमारे लिए एक शत्रु उत्पन्न कर देगा है ?।

अवश्य ही विप्रतिपत्ति ठीक है । इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि, 'वरुण' शब्द शत्रुभाव का ही
सूचक है । अब जान लेना केवल यही है कि, कर्म्मसिद्धि को शत्रुवाचक वरुणशब्द से क्यों व्यवहृत किया गया ।
कर्म्म के लिए संकल्प करना, और संकल्पानुसार कर्म्म में जुट पड़ना, यहाँतक तो सभी को मैत्रीभाव मानना
पड़ेगा । जो व्यक्ति कर्म्म के लिए अपने मित्र कर्म्मसंकल्प का अनुगमन नहीं करता, वह अवश्य ही दुःखी
रहता है । ऐसी दशा में कर्म्मसंकल्प, और तदनुगृहीत कर्म्म, दोनों को अवश्य ही 'मित्र' कहा जासकता है ।
मानी हुई बात कि, यदि कोई व्यक्ति हमारे हितैषी मित्र को मार डालता है, दूसरे शब्दों में उसका विरोध
कर देता है, तो वह मित्र का शत्रु हमारा भी शत्रु बन जाता है । कर्म्म की दक्षता कर्म्मसिद्धि है । जबतक
दक्षरूपा कर्म्मसिद्धि प्राप्त नहीं होती, तबतक हम कर्म्मानुगत संकल्पमित्र के साथी बने रहते हैं, अथवा
वह संकल्प स्वयं हमारा साथी बना रहता है । परन्तु जिस क्षण कर्म्म सिद्ध होजाता है, उसी क्षण तत् साधक
कर्म्म से सम्बद्ध संकल्प का भी अवसान होजाता है । इच्छासिद्धि अवश्य ही इच्छा का विराम कर देती है ।
भला सोचिए तो, जिस सिद्धिने हमारी कामना को, हमारे संकल्प को, संकल्प के साथ साथ कर्म्म को
समाप्त कर दिया, एक हितैषी मित्र को समाप्त कर डाला, उस कर्म्मसिद्धि को शत्रु (वरुण) नहीं कहें,
तो और क्या कहें ?। क्योंकि कर्म्मसिद्धि कर्म्मसंकल्परूप मित्र का अवसान कर देती है, अतएव श्रुतिने इसे
वरुण कहना ही उचित समझा है ।

+–इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन बहिरङ्गपरीक्षात्मक–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–प्रथम
खण्ड में देखना चाहिए ।

उत्तर कुछ अंशों में जँचा, कुछ अंशों में नहीं जँचा। क्योंकि कर्म्मसिद्धिरूप वरुणशत्रु कर्म्मसंकल्प–रूप मित्र का अवसान कर देता है, इसलिए कर्म्मसिद्धि को शत्रु कहना तो ठीक बन जाता है। परन्तु इस उत्तर में कृतघ्नता बैठी हुई है। जिस मित्र ने (संकल्पने) हमें सिद्धि दिलवाई, सिद्धि मिलते ही उसी सिद्धि के द्वारा हम उसे मरवा डालें, उसका अवसान करादें, यह कृतघ्नता नहीं, तो और क्या है ?। साथ ही में यह भी प्राकृतिक नियम है कि, सिद्धि होजाने पर संकल्प रह नहीं सकता। बिना सिद्धि के ऐहलौकिक–पारलौकिक कोई व्यवस्था सुरक्षित रह नहीं सकती। अगत्या हमें मित्रद्रोही बनना हीं पड़ता है। क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे सिद्धि प्राप्त करते हुए भी हम मित्र की मित्रता सुरक्षित रख सकें। है, और अवश्य है। उसी आवश्यक उपाय का नाम है–"वरुण"। सिद्धि को शत्रु समझना ही संकल्प की मैत्री सुरक्षित रखने का अन्यतम उपाय है।

इधर संकल्प है, उधर कर्म्मसिद्धि है, मध्य में संकल्पजनित कर्म्म है। यदि इस छोर में रहने वाले संकल्प को उस छोर में रहने वाली कर्म्मसिद्धि का मित्र बना दिया जाता है, तब तो निश्चयेन वह कर्म्म–सिद्धि संकल्प का नाश कर डालती है। सिद्धि स्वयं नाश नहीं करती। अपितु सिद्धिजनित भावना–वासना–संस्कार ही मानस विकास के अवरोधक बनते हैं। वे ही संस्कार सिद्धि–स्मृति के उत्तेजक बनते हुए मानस संकल्प को क्षुब्ध बनाए रखते हैं। यह क्षोभ ही संकल्प की अशान्ति है। अशान्ति ही इसका दुःख है। दुःख ही एक प्रकार की महामृत्यु, किंवा महाविनाश है। इससे बचने का एकमात्र उपाय यही होगा कि, अपने (आत्मा के) मित्र संकल्प को सिद्धि के चङ्गुल में नहीं फँसने दिया जाय। यदि संकल्प सिद्धिभाव का मित्र नहीं बनेगा, अपितु वह उसे शत्रु समझता रहेगा, तो दो फल होंगे। क्योंकि संकल्प रहेगा, इसलिए तो सिद्धि मिल जायगी। साथ ही में संकल्प की सिद्धि के साथ क्योंकि वरुण-सम्बन्धिनी पाशलक्षणा शत्रुता रहेगी, इसलिए सिद्धिजनित भावना–वासना-संस्कार इसे क्षोभ–अशान्ति दुःखलक्षण मृत्युमुख में भी नहीं डाल सकेंगे। इसे ही कहते हैं–"लाठी टूटै न भाँडा फूटे'।

एक आपत्ति से पीछा छूटा, दूसरी आपत्ति उपस्थित होगई। संकल्प सिद्धिभाव का मित्र न बने, यह बात असम्भव है। संकल्प का मूल कारण तो सिद्धि ही है। यदि मन को पहिले से यह विदत होजाय कि, सिद्धि मेरी शत्रु है, सिद्धि से कोई प्रयोजन नहीं है, तो भूल कर भी सिद्ध्यनुगत कर्म्म के लिए मन में संकल्प का उत्थान ही न हो। कर्म्मफल, किंवा कर्म्मसिद्धि ही तो संकल्प की मूलजननी है। फिर **"ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग-कामो यजेत'** इत्यादि श्रौतसिद्धान्त भी स्वर्गफल को ही तो यज्ञकामना का जनक बतला रहे हैं। **'प्रयोजन–मनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते'** इस सुप्रसिद्ध आभाणक के अनुसार निष्प्रयोजन, निष्फल, सिद्धिशून्य, कर्म्मों के लिए एक मूर्ख भी तो कोई संकल्प नहीं करता। फिर विचारशील बुद्धिमान् का तो कहना ही क्या है। संकल्प होगा सिद्धि के लिए ही, सिद्धि को रखना पड़ेगा सामने, तभी संकल्प संकल्प रहेगा। बिना सिद्धि को मित्र बनाए, सिद्धिभाव को लक्ष्य बनाए तो संकल्प का स्वरूप ही शेष नहीं रहेगा। अब बतलाए, सिद्धि के साथ शत्रुता रखने वाले सिद्धान्त का क्या मूल्य रहा ?। और ऐसी दशा में सिद्धि को वरुण (शत्रु) कहना कहाँतक न्यायसङ्गत रहा ?।

बात तो ठीक ठीक सी ही विदित होरही है। अवश्य ही कोई और उपाय निकालना ही पड़ेगा, और उस का एकमात्र आलम्बन बनेगा एकमात्र वही मध्यस्थ कर्म्म। बिना मध्यस्थ के निर्णायक और हो भी कौन सकता

है ?। संकल्प सिद्धिभाव को आरम्भ में लक्ष्य अवश्य बनाले । क्योंकि बिना लक्ष्य के तो उस का जन्म ही
नहीं होगा । परन्तु लक्ष्य स्थिर बनाने के अनन्तर ही उस ओर से सर्वथा तटस्थ बनकर वह तत्साधक कर्म्म
का अनुगामी बन जाय । संकल्प को यह स्मरण रखना चाहिए कि, जिस सिद्धि को उसने अपना लक्ष्य
बनाया है, उसे वह अपने बल पर प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ है । सिद्धि का जनक बनता है एकमात्र
कर्म्म । कर्म्म का जनक बनता है एकमात्र संकल्प । कर्म्म का एकमात्र अधिकारी जैसे संकल्प ही है वैसे
फल का एकमात्र अधिकारी कर्म्म ही है । सिद्धि संकल्पफल नहीं है, अपितु कर्म्मफल है । कर्म्म सुरक्षित
रखना संकल्प का काम, फल उत्पन्न करना कर्म्म का काम । दोनों के क्षेत्र सर्वथा पृथक् पृथक् । जब संकल्प का
फलप्राप्ति में कोई अधिकार ही नहीं, तो उस का उसे मित्र बनाना मूर्खता है । "शत्रुता बन नहीं सकती,
शत्रुता रहेगी तो संकल्प का जन्म ही न होगा" इस पूर्व हेतु का भी उस समय कोई मूल्य नहीं रह जाता,
जबकि आरम्भ में संकल्प अपनी प्रवृत्तिमात्र के लिए सिद्धि को लक्ष्य बना लेता है । कर्म्म में जुटने के बाद
यदि संकल्प फिर भी फलचर्वणा करता ही रहा, तो उस की वह शक्ति, वह अधिकार, जो एकमात्र कर्म्म-
स्वरूप-सम्पादन के लिए नियत है बँट जायगी । इसके दो घातक परिमाण होंगे । एक तो बल की कमी से
वह कर्म्म अपूर्ण रह जायगा, जो कि. अपनी पूर्णता में ही पूर्णफल का जनक बनता है । दूसरे फल की ओर
झुकाव रहने से संकल्प के द्वारा मन संस्कारासक्ति में अबद्ध होकर सचमुच मृत्युभाव का अनुगामी बन जायगा ।
फल पूरा मिला नहीं, आसक्ति होगई, बन्धन होपड़ा, कर्म्म में शिथिलता आगई, इन्हीं सब दोषों से बचने के
लिए संकल्प का सिद्धि को शत्रु समझना ही सर्वश्रेष्ठ पक्ष है । और इसी पक्ष को स्थापित करने के लिए श्रुति
ने सिद्धि को वरुणरूप शत्रु माना है ।

सचमुच जो व्यक्ति सिद्धि के दास बन जाते हैं, वे आगे जाकर कर्म्मशून्य बनते हुए भविष्य का विकास
रोक देते हैं । ज्ञानसिद्ध, लक्ष्मीसिद्ध, भोजनसिद्ध, आदि सिद्धों को, सिद्धि के इन अभिमानियों को अधिकांश में
अकर्म्मण्य ही देखा गया है । 'सिद्धि प्रलोभन में पड़कर हम अपने शुभ संकल्पों, एवं संकल्पानुगत लोका-
भ्युदयजनक कर्म्मों को व्यष्टि की तुष्टि में ही समाप्त न करदें' यही आदेश सूचित करने के लिए श्रुतिने समृद्धि
को शत्रु कहा है । श्रुति का अभिप्राय यही है कि, समृद्धि शत्रु नहीं है । अपितु समृद्धि का अतिमान, समृद्धि
में मानससंकल्प को आबद्ध कर देना ही शत्रुभाव + है । हमें अपने आपको सदा इस वरुणपाश से आत्म-परि-
त्राण ही करते रहना चाहिए ।

यह तो हुई मित्र-वरुण-लक्षण-क्रतु-दक्ष-के सम्बन्ध में प्रासङ्गिकी चर्चा । अब मूलविषय पर
आइए । 'भावना' के संग्राहक जितने भी वस्तुभाव हैं, सब में क्रतु, और दक्ष नामक दोनों भाव (ब्रह्म,
तथा क्षत्रभाव) अनिवार्य्यरूपेण प्रतिष्ठित रहते हैं । क्रतुरूप ब्रह्मभाव वस्तुतत्त्व का पूर्वरूप है । दक्षरूप क्षत्र-
भाव वस्तु का उत्तररूप है, एवं दोनों के मध्य में प्रतिष्ठिता कर्म्मधारा मध्यरूप है । आप जब भी जैसी भी
जो भी जिसकी भी भावना करेंगे, उसमें अवश्य ही तीनों पर्व उपलब्ध होंगे । भावनामय विश्व, और भाव-
नामय विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित भावनामय पदार्थ सदा त्रिपर्वा ही उपलब्ध होंगे । उपलब्ध होने वाली इसी
त्रिपर्वा भावना को हम **'भावनावेद'** कहेंगे ।

+—इस समय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्य' के 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते०' इत्यादि श्लोकभाष्य
में देखना चाहिए ।

भावनामय प्रत्येक पदार्थ क्रिया, किंवा कर्म्मरूप है, यह आरम्भ में ही कहा जाचुका है। इस कर्म्म में ब्रह्म का अनुज्ञाकर्म्म, क्षत्र का धाराकर्म्म, परिणामी समृद्धिकर्म्म, तीन विभाग रहेंगे। ब्रह्म की अनुज्ञा क्योंकि भावनाकर्म्म की प्रस्तावना है, उपक्रम है, अतएव इसे हम कर्म्म का 'उक्थ' (उत्थानबिन्दु) कहेंगे। उक्थ को क्योंकि प्रस्तावस्थानीय होने से 'ऋक्' कहा जाता है, अतएव कर्म्मोक्थरूपा ब्रह्मानुज्ञा को हम अवश्य ही भावनात्मक 'ऋग्वेद' कह सकते हैं। क्षत्रकर्म्म के द्वारा प्राप्त होने वाली कर्म्मसिद्धि ही कर्म्म का निधन है, उपसंहार है, अवसानभूमि है। क्योंकि अवसानभाव ही साम है, अतएव उपसंहार-स्थानीया इस समृद्धि को, दूसरे शब्दों में 'दक्ष' को अवश्य ही भावनात्मक 'सामवेद' कह सकते हैं। मध्यस्थ कर्म्म इस ओर से अनुज्ञा के साथ, तो उस ओर से समृद्धि के साथ योग कर रहा हैं। यजुर्वेद इस ओर ऋक् से, उस ओर साम से युक्त रहता है। इसी समानधर्म्म के कारण मध्यस्थ कर्म्म को **कर्म्मेदमनुज्ञया च युज्यते समृद्धया च युज्यते**, इस निर्वचन से अवश्य ही भावनात्मक 'यजुर्वेद' कह सकते हैं। इसप्रकार भावनाजगत् में प्रतिष्ठित भावनात्मक कर्म्मों से क्रतु-कर्म्म-दक्ष-भेद से सर्वत्र वेदत्रयी का साक्षात्कार किया जासकता है।

भावनावेदसंस्थापरिलेखः—

१–मित्रः–ब्रह्म—ज्ञानम्––उपक्रमः—ऋग्वेदः	भावनावेदत्रयी
२–कर्म्म–पुरुषार्थः-प्रवृत्तिः-मध्यबिन्दुः-यजुर्वेदः	
३–दक्षः—क्षत्रम्––कर्म्म—उपसंहारः–-सामवेदः	

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(२)–"भावनावेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना

१३

———*———

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

(२)-"भावनावेदनिरुक्तिः"-प्रकीर्णभावापन्ना

१३

———*———

श्रीः

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ-
(३)-"भाववेदनिरुक्तिः"-प्रकीर्णभावापन्ना

१४

—·—*—·—

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(३)–"भाववेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना

१४

यद्यपि **"भावो भावना क्रिया०"** इत्यादि रूप से भाव-भावना को एक ही वस्तुतत्त्व समझा जाता है। क्रियादृष्टि से दोनों को अभिन्न समझना उचित भी है। परन्तु परमार्थतः दोनों का आंशिक भेद स्वीकार करना ही पड़ेगा। अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित क्रियारूप वही वस्तुतत्त्व **"भावना"** कहलाएगा, एवं बहिर्जगत् में में प्रतिष्ठित क्रियारूप उसी वस्तुतत्त्व को हम **"भाव"** कहेंगे। भावनामय पदार्थ हमारे ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट है। भावनात्मक पदार्थ वे ही माने जायँगे, जो हमारे ज्ञान में प्रविष्ट रहेंगे। उधर भावलक्षण पदार्थ उन्हें कहा जायगा, जो हमारे ज्ञान से बहिर रहेंगे। भावनात्मक पदार्थों के निर्म्माता अन्य व्यक्ति, एवं ईश्वर है। यद्यपि भावना का उदय भावसंसर्ग से ही होता है, परन्तु दोनों का पार्थक्य प्रत्यक्षानुभूत है। बाह्यजगत् के भावात्मक किसी एक पदार्थ के आधार से हमारे ज्ञानीयजगत् में तद्रूप (भावरूप) पदार्थ का भावनारूप से जन्म होगया। यह भावनात्मक पदार्थ क्योंकि हमारे ज्ञान से बना, अतएव यह हमारी प्रातिस्विक वस्तु बन गया। अब यदि बाह्यजगत् में प्रतिष्ठित वह भावात्मक पदार्थ नष्ट भी होजाता है, तब भी हमारे भावनात्मक पदार्थ का कुछ नहीं बिगड़ता। जबतक हम रहेंगे, हमारा भावनात्मक पदार्थ सुरक्षित रहेगा। इसप्रकार अन्तर्जगत्–बहिर्जगत् के भेद से भावना और भाव, दोनों सर्वथा पृथक् पृथक् ही माने जायँगे। पूर्व प्रकरण में भावनात्मक वेद का दिग्दर्शन हुआ है, एवं प्रकृत प्रकरण संक्षेप से भाववेद का ही स्पष्टीकरण कर रहा है।

दूसरी दृष्टि से उक्त विभेद का विचार कीजिए। पदार्थों की सत्ता के दो स्वरूप माने गये हैं। ज्ञानपूर्विका सत्ता एक पक्ष है, एवं सत्तापूर्वक ज्ञान दूसरा पक्ष है। जो पदार्थ हमारे ज्ञान में आगए हैं, दूसरे शब्दों में हम जिन पदार्थों को जानते हैं, उनका अस्तित्व इसीलिए है कि, हम उन्हें जानते हैं। हमारे ज्ञानाकाश में हमें जिन सत्तासिद्ध पदार्थों की प्रतीति होती है, उनकी सत्ता ज्ञानपूर्विका ही मानी जायगी। हम उन्हें जानते हैं, इसीलिए वे हैं, यही कहा जायगा। इस ज्ञानपूर्विका सत्ता को, दूसरे शब्दों में ज्ञानानुगृहीत पदार्थ को ही "भावना" कहा जायगा। जो पदार्थ हमारे ज्ञान में अभीतक नहीं आए, इसीलिए जिन्हें हम अभीतक नहीं जानते, परन्तु जिनकी सत्ता कहीं न कहीं अवश्य है, जो कि किसी समय हमारे ज्ञान में आकर भावनात्मक बन सकते हैं, उन पदार्थों को **"सत्तापूर्वक ज्ञान"** इस वाक्य से सम्बोधित किया जायगा। बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित इन सत्तासिद्ध पदार्थों के संसर्ग से ही हमारा ज्ञान एतद्रूप पदार्थों की कल्पना करने में, अपने अन्तर्जगत् के स्वरूप-निर्म्माण में समर्थ होता है। सत्तासिद्ध बाह्यजगत् के पदार्थों को आश्रय बना कर ही हम उनका ज्ञान करने में समर्थ होते हैं। ये सत्तासिद्ध पदार्थ ही "भाव" कहलाएँगे। भावना में ज्ञान का प्राथम्य रहेगा, एवं भाव में

सत्ता का प्राधान्य रहेगा। भावनात्मक पदार्थों के सम्बन्ध में-'हम जनते हैं, इस लिए उन पदार्थों की सत्ता है', यह कहा जायगा। एवं भावात्मक पदार्थों के सम्बन्ध में-"पदार्थ हैं, इस लिए हम उन्हें जानते हैं" यह कहा जायगा। इसप्रकार ज्ञानपूर्विका सत्ता से सम्बन्ध रखते हुए वे ही पदार्थ "भावना" कहलाएँगे, एवं सत्तापूर्वक ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले वे ही पदार्थ भाव कहलाएँगे। और इसी दृष्टि से दोनों को भिन्न भिन्न ही वस्तुतत्त्व माना जायगा।

बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित सत्तासिद्ध, अतएव भावरूप पदार्थों में यों तो प्रतिक्षण ही नवीन नवीन परिवर्त्तन होते रहते हैं। एवं इस क्षणिक परिवर्त्तन से हम कह सकते हैं कि, प्रत्येक भाव (सत्तासिद्ध पदार्थ) क्षण क्षण में ही विकृत होरहा है। परन्तु विद्वानोंनें क्षणभावात्मक अनन्त भावविकारों का प्रधानरूप से ६ भागों में हीं वर्गीकरण करना उचित समझा है। वे ही * षड्भावविकार निरुक्तादि ग्रन्थों में क्रमशः निम्नलिखित नामों से व्यवहृत हुए हैं—

१—जायते	१—उपत्न्न होता है।
२—अस्ति	२—प्रतिष्ठित होता है।
३—विपरिणमते	३—बदलने लगता है।
४—वर्द्धते	४—बढ़ने लगता है।
५—अपक्षीयते	५—क्षीण होने लगता है।
६—नश्यति	६—नष्ट होजाता है।

अभीतक देवदत्त संसार में न था। माता-पिता के रजो-वीर्य्य के सम्मिश्रण में देवदत्त का कर्म्मभोक्ता औपपातिक आत्मा कर्म्मानुसार प्रविष्ट होकर गर्भरूप में परिणत होगया। ६ मास की क्रमिक वृद्धि से स्वरूप धारण कर यथासमय 'एत्रयामरुत्' के प्रत्याघात से भूमिष्ठ होगया। यही इस सत्तात्मक भाव की पहिली जन्मावस्था हुई।।यहीं आकर यह "जायते" इस पहिले भावविकार का पात्र बना। "जायते-इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे, नापरभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति" (यास्क० नि० १।२।६) के अनुसार इतर भाव-विकारों की प्रथमावस्था, उपक्रमावस्था ही "जायते" से सूचित होती है। उत्पन्न होने के अनन्तर आज उसी देवदत्त की "देवदत्त है" इसरूप से सत्ता का अभिनय होने लगता है, जिस देवदत्त की सत्ता की एतत्पूर्व कहीं भी तो स्वरूपाभिव्यक्ति हमें उपलब्ध नहीं थी। यही-'अस्तीत्युत्पन्नस्यसत्त्वस्यावधारणम्" लक्षण दूसरा "अस्ति" भावविकार हुआ। उत्पन्न हुआ, सत्त्व का अवधारण हुआ, पनपा, लीजिए बदलने लगा। क्रमशः परिवर्त्तन का आरम्भ हुआ। यही तीसरा "विपरिणमते" भावविकार कहलाया। क्रमशः बढ़ने लगा, अङ्ग प्रत्यङ्ग पुष्ट होने लगे, यही चौथा भावविकार "वर्द्धते" कहलाया। वृद्धि की चरम सीमा पर पहुँचते ही अब क्रमशः शारीरिक शक्तियों का क्षय होने लगा। बाल सुफेद हुए, दाँत

---

*—"षड्भावविकारा भवन्ति-इति वार्ष्यायणिः-जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति-इति"

—यास्कनिरुक्त १।२।८

टूटने लगे, हाथ पैरों में झुर्रियाँ पड़ने लगीं। वहीं पाँचवाँ "अपक्षीयते" भावविकार कहलाया। एक समय ऐसा आया कि, जिस देवदत्त ने एक दिन 'जायते' का बाना पहिना था, वही धराशायी बन कर "नश्यति" इस छठे भावविकार का पात्र बन गया। उदाहरण मात्र है। उत्पन्न होने वाले जड़–चेतनात्मक जितने भी भाव हैं, सब में इन्हीं ६ भावविकारों का समावेश है। इतर अन्यान्य भावविकार–"**अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह–(वार्ष्यायणिः)**" (यास्क नि० १।३।१) के अनुसार इन्हीं ६ भाव–विकारों में यथानुरूप अन्तर्भूत हैं।

उक्त ६ भावविकारों में 'जायते' नामक पहिला भावविकार, और 'नश्यति' नामक ६ ठा भावविकार, दोनों समानधर्म्मा हैं। इसी समानता को लक्ष्य में रखकर सर्वश्री यास्काचार्य्यने दोनों का लक्षण करते हुए दोनों के सम्बन्ध में "**नापरभावमाचष्टे न प्रतिषेधति**"–"**न पूर्वभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति**" इन वाक्यों का उल्लेख किया है। इस ओर जन्म है, उस ओर मृत्यु है। मध्य में बाल–तारुण्य–प्रौढ–वार्धक्यादि अवस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाले अस्ति–विपरिणमते–वर्द्धते–अपक्षीयते–ये चार भावविकार हैं। इस ओर प्रस्ताव है, उस ओर निधन है, मध्य में जीवन है। जायते उपक्रम है, नश्यति उपसंहार है, जायते ही शेष चारों भावविकारों का उक्थस्थान बनता हुआ **ऋग्वेद** है। 'नश्यति' ही शेष पाँचों भावविकारों का अन्तिम निधनपृष्ठ बनता हुआ '**सामवेद**' है। एवं मध्यस्थ–अस्ति आदि चारों भावों की समष्टि ही उपक्रमस्थानीय उक्थलक्षण जायते रूप ऋग्वेद के साथ, तथा उपसंहारस्थानीय पृष्ठलक्षण, नश्यतिरूप सामवेद के साथ युक्त रहती हुई '**युज्यते-उपक्रमोपसंहाराभ्याम्**' इस निर्वचन से '**यजुर्वेद**' है। इसप्रकार षड्भावविकारात्मक सत्ता-सिद्ध प्रत्येकभाव में उक्त दृष्टि से तीनों वेदों का समन्वय देखा जासकता है, एवं इसी वेद को "**भाववेद**" कहा जाता है।

भाववेदसंस्थापरिलेखः—

१–१–१–जायते–जन्मावस्था }–उपक्रमः––उक्थम्––"ऋग्वेदः"

१–२–अस्ति–बालावस्था
२–२–३–विपरिणमते–तरुणावस्था
३–४–वर्द्धते–प्रौढावस्था
४–५–अपक्षीयते–वृद्धावस्था
} मध्यभावाः–मध्यबिन्दुः–"यजुर्वेदः"

३–१–६–नश्यति–निधनावस्था }–उपसंहारः–पृष्ठम्–"सामवेदः"

} "भाववेदः"

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
[३]–"भावेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना
१४

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
[३]–"भाववेदनिरुक्तिः"-प्रकीर्णभावापन्ना
१४

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

(४)-"दिग्वेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना

१५

——*——

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
[४]–"दिग्वेदनिरुक्तिः"-प्रकीर्णभावापन्ना
१५

पदार्थतत्त्ववेत्ता विद्वानोंनें विश्वपदार्थों को सत्तासिद्ध-भातिसिद्ध-उभयसिद्ध भेद से तीन जातियों में विभक्त माना है। जिन पदार्थों की सत्ता तो है, परन्तु भाव नहीं होता, उन्हें सत्तासिद्धपदार्थ कहा जाता है। इन सत्तासिद्ध पदार्थों के भी आगे जाकर विशुद्धसत्तासिद्ध, वर्त्तमानानुबन्धी-सत्तासिद्ध भेद से दो विभाग होजाते हैं। कुछ पदार्थ तो ऐसे हैं, जिन की सत्ता तो अवश्य है, परन्तु चर्म्मचक्षु से, किंवा अन्य किसी इन्द्रिय से जिनका भान हम साधारण मनुष्यों को नहीं होसकता। उदाहरण के लिए ईश्वर, जीव, परलोक, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, महान्, अव्यक्त, देवता, शक्तियाँ आदि कितने एक वैसे तत्त्व हैं हैं, जिन की सत्ता तो हमें स्वीकार करनी पड़ती है, परन्तु उन का घट–पटादि भौतिक पदार्थों की भाँति भान (इन्द्रियप्रत्यक्ष) नहीं होता। इन्हें, एवं प्रत्यक्ष से परे रहने वाले एतत् सजातीय अन्य सब पदार्थों को हम 'विशुद्धसत्तासिद्ध' ही पदार्थ कहेंगे।

कितने एक पदार्थ ऐसे हैं, जो उभयसिद्ध तो अवश्य हैं, अर्थात् जिन की सत्ता भी है, और प्रयास करने पर यथावसर जिन का भान भी होसकता है, परन्तु विद्यमानकाल में उन का भान नहीं होरहा। ऐसे अदृष्ट--अश्रुत उभयसिद्ध पदार्थों को भी हम (जबतक कि, उन का प्रत्यक्ष नहीं होजाता, तबतक के लिए) सत्तासिद्ध ही कहेंगे। सदा के लिए विशुद्ध सत्तासिद्ध, भविष्य के लिए सम्भावनातः सत्तासिद्ध, किन्तु वर्त्तमान के लिए सत्तासिद्ध, इसप्रकार सत्तासिद्ध पदार्थों के विशुद्धसत्तासिद्ध, वर्त्तमानानुबन्धी-सत्तासिद्ध भेद से दो विभाग होजाते हैं। योरोप अमेरिका, अफ्रिका, भूगर्भ में रहने वाले विविध धातु, उपधातु, शरीर के भीतर रहने वाले अस्थि-मांसादि पदार्थ प्रयास करने पर उभयसिद्ध बन सकते हैं। परन्तु बिना प्रयास के अप्रत्यक्षदशा में रहते हुए इन्हें वर्त्तमानानुबन्धी-सत्तासिद्ध पदार्थ ही माना जायगा।

दूसरा विभाग 'भातिसिद्ध' पदार्थों का है। जिन पदार्थों की कहीं भी सत्ता (अस्तित्त्व) नहीं है, परन्तु व्यवहारमार्ग में पद पद जिन का भान (प्रतीति) होरहा है, उन्हें भातिसिद्ध पदार्थ कहा जायगा। दिक्-देश–काल–संख्या–परिमाण आदि जो पदार्थ सुने जाते हैं, जिन की आबालवृद्ध सब को प्रतीति होरही है, जिन से सम्पूर्ण लौकिक व्यवहारों का सुव्यवस्थित सञ्चालन होरहा है, वे कतिपय पदार्थ अस्तित्त्व की मर्य्यादा से सर्वथा ही बहिर्भूत हैं। दिशाएँ-समय-स्थान-संख्या-परिमाण कोई भी तो ऐसे पदार्थ नहीं है, जो कि सत्तानुगत कार्य्यकारण की मर्य्यादा से युक्त हो। अस्तित्त्व नहीं है, भाति अवश्य है। भाति ही इन का स्वरूप है। अतएव इन्हें भातिसिद्ध पदार्थ कहा जायगा।

तीसरा विभाग 'उभयसिद्ध' पदार्थों का है। **सूर्य्य-चन्द्रमा-आकाश-वायु-जल-पृथ्वी-ओषधि-मनुष्य-पशु-पक्षी** आदि जिन परिज्ञात पदार्थों के सम्बन्ध में-हम **'अयं सूर्य्यः-अयं चन्द्रमाः'** इत्यादि रूप से अभिनय कर रहे हैं, वे सब पदार्थ सत्ता भी रखते हैं, एवं इन का भान भी होरहा है, अतएव हम ऐसे पदार्थवर्ग को अवश्य ही 'उभयसिद्ध' पदार्थवर्ग मान सकते हैं।

पूर्वप्रकरणों में **'उपलब्धिवेद'** का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, उपलब्धिभाव ही **'वेत्ति-इति-वेदः'** इस निर्वचन के अनुसार वेदपदार्थ है। क्योंकि सत्तासिद्ध पदार्थों की सत्तारूप से, भातिसिद्ध पदार्थों की भातिरूप से, एवं उभयसिद्ध पदार्थों की उभयरूप से हमें उपलब्धि होरही है, अतएव इन तीनों हीं वर्गों के साथ वेद शब्द का सम्बन्ध जोड़ा जासकता है। सम्पूर्ण विश्व इन त्रिविध पदार्थों का ही समन्वय है। तीनों उपलब्धि के विषय बनते हुए वेद हैं। अतः सम्पूर्ण विश्व, एवं विश्व के त्रिविध पदार्थ अवश्य ही वेदमय माने जासकते हैं। वेदतत्त्व की इसी सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन कराने के लिए प्रस्तुत प्रकीर्णकवेद-प्रकरण पाठकों सम्मुख उपस्थित हुआ है।

क्योंकि सर्वव्याप्तिलक्षण विश्वमूर्त्ति वेद उक्तपदार्थत्रयी के भेद से तीन संस्थाओं में विभक्त होरहा है। अतएव इस **'प्रकीर्णकवेदनिरुक्तिप्रकरण'** में तीनों के ही उदाहरण बतलाना आवश्यक होजाता है। इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए पूर्वप्रतिज्ञात सात संस्थाओं की निरुक्ति हुई है। अब केवल यह जान लेना है कि, सातों में कौन सत्तासिद्धसंस्था का समर्थक है ?, कौन उभयसिद्धसंस्था का ?, एवं कौन भातिसिद्धसंस्था का अनुगामी है ?।

अबतक **[1]पर्व-[2]भावना-[3]भाव** इन तीनों वेदसंस्थाओं का निरूपण हुआ है, एवं **[4]दिक्-[5]देश-[6]काल-[7]वर्ण**, इन चार वेदसंस्थाओं का निरूपण अवशिष्ट है।

हृदय-परिधि-सत्तारस, तीन पर्वों की समष्टि ही **'पर्ववेद'** है। हृदय, और परिधिरूप ऋक्सामलक्षण छन्द हैं। छन्द स्वयं भातिसिद्ध पदार्थ है। इन दोनों-ऋक्-साम-छन्दों से छन्दित स्वयं वस्तुतत्त्व (रसाग्नि) यजुः है, और यह सत्तासिद्ध पदार्थ है। इसप्रकार पर्ववेदसंस्था में ऋक्साम तो भातिसिद्ध हैं, एवं यजुः सत्तासिद्ध है। पर्ववेद में क्योंकि दोनों का समन्वय है, अतएव इसे हम **'उभयसिद्धवेदसंस्था'** का उदाहरण मानेंगे।

'भावनावेद' का मानस-भावना के मुख्य सम्बन्ध है। मानस-भावना में क्रतु-दक्ष, और दोनों से वेष्टित कर्म्मधारा, ये तीन विभाग हैं। क्रतुरूप संकल्प भी कर्म्म है, समृद्धिरूप दक्ष भी कर्म्म है, कर्म्मधारा का कर्मत्व तो सिद्ध ही है। कर्म्म, किंवा क्रिया एक भातिसिद्ध पदार्थ है, और भावनात्मिका वह क्रिया तो अवश्य ही भातिरूपा मानी जायगी, जिसका केवल ज्ञानीय अन्तर्जगत् से ही सम्बन्ध है। इसी हेतु से हम इस दूसरी भावनावेदसंस्था को **'भातिसिद्धवेदसंस्था'** का उदाहरण मानेंगे।

भाववेद का बहिर्जगत् से सम्बन्ध बतलाया गया है। बहिर्जगत् के भावात्मक पदार्थ सत्तासिद्ध माने गए हैं। जबतक ये बहिर्जगत् की वस्तु रहते हैं, तभीतक इन्हें 'भाव' कहा जाता है। अन्तर्जगत् की वस्तु बनने के अनन्तर ही इन्हें **'भावना'** शब्द की उपाधि मिलती है। साथ ही में अपनी भावदशा में (हमारी ज्ञानलक्षणा

माति से बहिर्भूत रहते हुए) ये पदार्थ सत्तासिद्ध ही रहते हैं। अतः तीसरी भाववेदसंस्था को 'सत्तासिद्ध वेदसंस्था' का उदाहरण माना जासकता है।

दिग-देश-काल, तीनों विशुद्ध भातिसिद्ध पदार्थ हैं। अतः इन तीनों वेदसंस्थाओं को 'विशुद्धभातिवेदसंस्था' के उदाहरण माना जायगा। एवं सातवीं वर्णवेदसंस्था का विशुद्ध सत्ताभाव से सम्बन्ध है। वर्णलक्षण ब्रह्म-क्षत्र-विड्वीर्य्य प्राणात्मक हैं।। रूप-रस-गन्धादि पञ्चतन्मात्राओं से अतीत तत्त्व ही प्राण का स्वरूप-लक्षण है। इन्द्रियाँ तन्मात्रधर्म्मों के ही 'भाव' (स्वरूप) सम्पादन में समर्थ हैं। क्योंकि वर्णात्मक प्राण इन्द्रियातीत हैं, अतः वर्णवेदसंस्था को 'विशुद्ध सत्तासिद्धसंस्था' का ही उदाहरण माना जायगा। इस वर्गीकरण को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रकीर्णक-वेदसंस्थाओं के स्वरूप पर दृष्टि डालनी चाहिए।

१-पर्ववेदसंस्था--- उभयसिद्धा-वेदसंस्था
२-भावनावेदसंस्था- भातिसिद्धा-वेदसंस्था
३-भाववेदसंस्था- सत्तासिद्धा-वेदसंस्था
४-दिग्वेदसंस्था-- विशुद्धा-भातिसिद्धा-वेदसंस्था
५-देशवेदसंस्था- "
६-कालवेदसंस्था-- "
७-वर्णवेदसंस्था--- विशुद्धा-सत्तासिद्धा-वेदसंस्था

सातों में तीन का निरूपण गतार्थ है। चौथी क्रमप्राप्त विशुद्धभातिरूप **दिग्वेदसंस्था** ही हमारे सामने आती है। दिशा के सम्बन्ध से १० दिशाएँ मानीं गईं हैं। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण ये चार तो दिशाएँ हैं, एवं **ईशान-नैऋत-आग्नेय-वायव्य-ऊर्ध्व-अधः** ये ६ अवान्तरदिशाएँ मानी गईं हैं। इन छओं अवान्तरदिशाओं का चार मुख्य दिशाओं में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। ईशानकोण का पूर्वोत्तरदिशाओं में, आग्नेयकोण का पूर्व-दक्षिण--दिशाओं में, नैऋतकोण का दक्षिण-पश्चिम-दिशाओं में, वायव्यकोण का पश्चिमोत्तर-दिशाओं मे अन्तर्भाव है। एवं ऊर्ध्व-अधः इन दो अवान्तर दिशाओं का पूर्व पश्चिम, इन दोनों मुख्य दिशाओं में अन्तर्भाव है। उर्ध्व-अधोदिशा, दोनों का क्रमशः खगोलीय खस्वस्तिक, एवं अधःस्वस्तिक के साथ सम्बन्ध है। खगोलीय ये दोनों स्वस्तिक ऊर्ध्व अधः-क्रमशः 'मित्रवरुण' नाम से प्रसिद्ध पूर्व-पश्चिम-कपालद्रय के मध्य में पड़ते हैं, पूर्वकपाल मित्र है, पश्चिमकपाल 'वरुण' है। मित्र-इन्द्र पूर्वदिशा के दिक्पाल हैं। आप्य वरुण पश्चिमदिशा के दिक्पाल माने गए हैं। क्रतु-दक्ष जहाँ आध्यात्मिक मैत्रावरुणग्रह' है, वहाँ इन्द्र-वरुण आधिदैविक मैत्रावरुण ग्रह माना गया है। क्योंकि खगोलीय ऊर्ध्व-अधः नामक मध्यस्थ दोनों अवान्तर दिशाएँ मित्रावरुण की सन्धि से युक्त रहती हुई पूर्व-पश्चिम दोनों दिशाओं से सम्बन्द्ध है, अतएव इन दोनों का हम पूर्व पश्चिम दिशाओं में ही अन्तर्भाव मानना उचित समझते हैं। तात्पर्य्य इस दिग्विवेचन का प्रकृत में केवल यही है कि, दश दिशाओं का प्रधानरूप से पूर्वादि प्रसिद्ध चार दिशाओं में हीं पर्य्यवसान होजाता है।

पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण चारों के क्रमशः इन्द्र-वरुण-चन्द्रमा-यम नामक चार देवता अधिपति हैं। इन्द्रदेवतामयी प्राची दिक् ही इतर दिशाओं की उक्थरूपा बनती है, अतएव इसे हम 'ऋग्वेद' कह सकते हैं। दक्षिणा दिक् यमाग्निमयी बनती हुई अग्निमय 'यजुर्वेद' से सम्बन्ध रखती है। प्रतीचीदिक् आपोमयी वरुणमयी बनती हुई अथर्वाङ्गिरा-लक्षण 'अथर्ववेद' से सम्बन्ध रही है। एवं उत्तरादिक् सोमयी बनती हुई 'सामवेद' से अनुगता है। इसी दिग्वेदसंस्था का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते-
दक्षिणामाहुर्यजुषामपाराम्।
अथर्वणामङ्गिरसां- -प्रतीची-
साम्नामुदीची महती दिगुच्यते॥
—तै ब्रा० ३।१२।६।७।

दिग्वेदसंस्थापरिलेखः—

१-प्राची—ऐन्द्री—'ऋग्वेदः'
२-दक्षिणा-याम्या—'यजुर्वेदः'
३-उदीची-सौम्या—'सामवेदः'
४-प्रतीची-वारुणी—'अथर्ववेदः'
} "दिग्वेदः"

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ-
[४]-"दिग्वेदनिरुक्तिः"-प्रकीर्णभावापन्ना

१५

———*———

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
[४]–"दिग्वेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना
१५

——*——

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ "देशवेदनिरुक्ति":-प्रकीर्णभावापन्ना

१६

——*——

श्रीः

अथ—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
[५]–"देशवेदनिरुक्तिः"-प्रकीर्णभावापन्ना

१६

—※—

स्थान को ही 'देश' कहा जाता है । दिशा ही देशभाव की अनुग्राहिका बनती है । दूसरे शब्दों में-
दिशा ही देश की परिचायिका बनती है । जब कि देशपरिचायिका दिशा स्वयं भातिसिद्धि पदार्थ है, तो हम
अवश्य ही दिशा के द्वारा परिचित देश को भी भातिसिद्धिपदार्थ ही कहेंगे । अतएव देशवेदसंस्था को भी
भातिसिद्धवेदसंस्था का ही उदाहरण माना जायगा । पूर्वदेश–पश्चिमदेश–उत्तरदेश–दक्षिणदेश–इत्यादि
शब्द स्पष्ट ही देशों को दिगनुबन्धी बतलाते हुए इनकी भातिसिद्धता ही प्रकट कर रहे हैं । यह स्मरण रखने
की बात है कि, देश अपने स्वरूप से तो एक सत्तासिद्ध पदार्थ ही माना जायगा । क्योंकि देश का प्रदेश–
भाव से सम्बन्ध है, प्रदेश का मूर्त्तिभाव (पिण्डभाव) से सम्बन्ध है । एवं पिण्ड एक सत्तासिद्ध पदार्थ
है । दिक् के सम्बन्ध से ही सत्तासिद्ध, धामच्छद–देश–पदार्थों में भातिभाव का उदय होता है ।

ऐसी परिस्थिति में हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, यदि देशशब्द से दिगनुबन्धी पूर्व-
पश्चिम–उत्तरादि देश गृहीत हैं, तब तो देशवेद भातिवेद का उदाहरण बनेगा । एवं उस दशा में पूर्वदेश
ऋग्वेदमय, दक्षिणदेश यजुर्वेदमय, उत्तरदेश सामवेदमय, एवं पश्चिमदेश अथर्ववेदमय कहलाएँगे । यदि देश
का दिक् से सम्बन्ध न मानकर स्वतन्त्ररूप से विचार किया जायगा, तो उस दशा में यही देशवेद सत्तानु–
बन्धी बनता हुआ सत्तासिद्ध–वेदसंस्था का ही उदाहरण कहा जायगा । क्योंकि दिगनुबन्धी देशवेद पूर्व के
दिग्वेदप्रकरण से गतार्थ है, अतः प्रकृत में सत्तानुबन्धी विशुद्ध देशवेद का ही विचार अपेक्षित होगा ।

पूर्वादि दिशाओं से असम्बद्ध देशपदार्थएक सत्तासिद्ध पदार्थ है । सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–मनुष्य–आदि
जितने भी सत्तासिद्ध भौतिक पिण्ड हैं, वे सभी देशरूप हैं । देश को ही वैदिकभाषा में 'लोक' कहा जाता है ।
इसे ही वैज्ञानिक लोग 'मूर्त्ति' कहते हैं । लोकभाषा इसे ही 'पिण्ड' नाम से सम्बोधित करती है । फलतः
देशशब्द की इतिश्री पिण्डात्मक सत्तासिद्ध पदार्थों पर होजाती है ।

हमें जब भी जहाँ भी जो भी कुछ उपलब्ध होता है, उस उपलब्ध पदार्थ की 'अस्ति' रूप ही से प्रतीति हुआ
करती है । सूर्य्य की उपलब्धि का स्वरूप 'सूर्य्योऽस्ति' यह सत्ताभाव ही है । सत्तात्मक सूर्य्यपिण्ड को (जिसे
कि हम पूर्वपरिभाषानुसार देश कहेंगे) आधार बना कर ही हमें सूर्य्यपदार्थ की उपलब्धि होती है । इस
प्रतीति की उपलब्धि का मूलाधार बनने वाला देशात्मक सूर्य्य ही देशवेद कहलाएगा । इस देशवेद में

मूर्त्ति–मण्डल-गति, भेद से तीनों वेदों का उपभोग होरहा है। हमारी सूर्य्योपलब्धि का जो मूल आधार है, जिसे मूलाधार बना कर उपलब्धि होरही है, वह मूलपिण्ड उपलब्धि का उक्थ बनता हुआ पूर्वपरिभाषा के अनुसार 'ऋग्वेद' कहा जायगा।

उक्थ उस तत्त्व का नाम है, जिससे अनन्त अर्क (रश्मियाँ) बाहिर की ओर निकल कर ऊर्ध्व–अधः–पूर्व–पश्चिम–उत्तर–दक्षिण सब ओर फैले रहें। उक्थ सदा एक रहता है, अर्क असंख्य होते हैं। पूर्व में यद्यपि हमने उक्थपिण्ड को उपलब्धि का आधार बतलाया है, परन्तु वस्तुतः उपलब्धि के आधार ये ही अर्क बनते हैं। क्योंकि अर्कों का आधार स्वयं पिण्ड है, इसलिए परम्परया मूलपिण्ड की भी आधारता सिद्ध होजाती है। सूर्य्यपिण्डरूप उक्थकेन्द्र से निकल कर चारों ओर पृथिवीपिण्ड से भी परे पर्य्यन्त अर्क व्याप्त होरहे हैं। इन अर्कों का एक स्वतन्त्र तेजोमण्डल बना हुआ है। इसी अर्करूप तेजोमण्डल को "सामवेद" कहा जायगा। तेजोमण्डलरूप बहिःपृष्ठ, एवं सूर्य्यपिण्डरूप उक्थपृष्ठ, दोनों के मध्य में दोनों से योग करता हुआ जो संचारीभाव है, गतिमत् तत्त्व है, सूर्य्यबिम्ब से निकल कर पृथिवीपृष्ठ का स्पर्श करता हुआ जो अपने गतिभाव से लोकालोकपृष्ठपर्य्यन्त अभिव्याप्त है, उसे ही 'ब्रह्म' रूप 'यजुर्वेद' कहा जायगा। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, सत्तासिद्ध प्रत्येक पिण्ड देशवेद है। प्रत्येक पिण्ड में **उक्थ–पृष्ठ–ब्रह्म** नामक तीन विभाग रहते हैं।

स्वयं मूलपिण्ड उक्थ कहलाता है। मूलपिण्ड के केन्द्र से निकल कर बड़ी दूर पर्य्यन्त व्याप्त होने वाला रश्मिमण्डल पृष्ठ कहलाता है। पिण्डकेन्द्र, और मण्डल की अन्तिम परिधि, दोनों के मध्य में विचरण करने वाला गतिमत्तत्त्व 'ब्रह्म' कहलाता है। क्योंकि सूर्य्य में ज्योतिर्भाव के कारण तीनों का प्रत्यक्ष भलीभाँति होजाता है, इसीलिए उसे उदाहरण बतला दिया है। वस्तुतः यह त्रयीभाव पिण्डमात्र में समझना चाहिए। जो रूपज्योतिर्म्मय (पृथिव्यादि) पिण्ड हैं, उनमें भी यही व्यवस्था है। पार्थिवतमोरूप आवरण से ही पार्थिवरश्मिमण्डल का सूर्य्यरश्मिमण्डलवत् प्रत्यक्ष नहीं होता। वस्तुतस्तु जिसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, उपलब्धि माना जाता है, वह तो मण्डल की ही होती है, जैसाकि पाठक आगे आने वाले वेदरहस्यप्रकरण में देखेंगे। यहाँ इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, स्वज्योतिर्म्मय (सूर्य्यादि पिण्ड हों, परज्योतिर्म्मय (चन्द्रमादि) पिण्ड हों, अथवा रूपज्योतिर्म्मय (पृथिव्यादि) पिण्ड हों, सब में उक्थ-ब्रह्म-पृष्ठ तीनों संस्थाएँ नियमतः रहेंगीं। स्वयं मूलपिण्ड उक्थ कहलाएगा। इसे ही ऋग्वेद माना जायगा। मूलपिण्ड के केन्द्र से बद्ध होकर चारों ओर वितत तेजोमण्डल, किंवा रश्मिमण्डललक्षण पृष्ठ सामवेद कहा जायगा। एवं उक्थपिण्ड, और तेजोमण्डल, दोनों से अनुगृहीत गतिमत् प्राणब्रह्म यजुर्वेद कहलाएगा। इसप्रकार देशात्मक प्रत्येक सत्तासिद्ध पदार्थ में तीनों वेदों का उपभोग मिलेगा। जड़–चेतनात्मक यच्चयावत् पिण्डों में प्रकृत वेदव्यवस्था की समानरूप से ही व्याप्ति उपलब्ध होगी। निम्नलिखित श्रौत वचन इसी देशवेदसंस्था का समर्थन कर रहा है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः–
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्–
सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥

—तै० ब्रा० ३।१२।९।२।

देशवेदसंस्थापरिलेख—

१–मूर्त्तिः—उक्थम्—'ऋग्वेदः'	— "देशवेदः"
२–वस्तुभावः—ब्रह्म —'यजुर्वेदः'	
३–मण्डलम्—पृष्ठम्— 'सामवेदः'	

इति–वैज्ञानिवेदनिरुक्तौ
(५) -"देशवेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना

१६

—— * ——

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ–

[५]–"देशवेदनिरुक्तिः"-प्रकीर्णभावापन्ना

१६

—— ——*—— ——

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(६)–"कालवेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना
१७

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(६)-"कालवेदनिरुक्तिः"-प्रकीर्णभावापन्ना

१७

———*———

विश्वसृष्टिप्रवर्त्तक 'प्रतिष्ठापुरुष' (ब्रह्मा), विश्वसृष्टिपालक 'यज्ञपुरुष' (विष्णु), एवं इन दोनों पुरुषों के क्रमशः प्रवर्तित और पालित स्वयं विश्वप्रपञ्च विश्वसृष्टिसंहारक महापुरुषलक्षण जिस **'महाकाल'** (महादेव) के गर्भ में अणुवत् समा रहा है, जो कालतत्त्व अपने इतर सब प्रपञ्चों को अपना ग्रास बनाए हुए है, जो कालपुरुष स्वयं काल (संहार) मर्य्यादा से अतीत बनता हुआ **'मृत्युञ्जय'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है, मृत्यु ही जिस महाकाल का विश्वसंहारक ताण्डवनृत्य है, जो तत्त्व स्वयं विश्वातीत बनता हुआ अखण्ड–अद्वय–परात्पर है, जो तत्त्व विश्वविवर्त्त को अपनी कालरूपा आद्या महाकाली के द्वारा कालचक्र में आबद्ध करता हुआ स्वयं कालबन्धन से पृथक् रहता हुआ कालातीत है, उस अखण्ड, कालतीत, कालपुरुष के सम्बन्ध में खण्डभाव से सम्बन्ध रखने वाली शब्दतन्मात्रावयी वेदनिरुक्ति का प्रदर्शन कराना तात्त्विक दृष्टि से यद्यपि सर्वथा अनुचित है, तथापि विश्वविवर्त्त के सोपाधिकभाव को ही आगे कर पुरुष को उपाधि से विभूषित कर, विश्वदृष्टया उसी अखण्ड के क्रमशः भूत–वर्त्तमान–भविष्यत् ये तीन खण्ड कर उसके इन सोपाधिकरूपों के साथ ही वेद का सम्बन्ध कराने का साहस किया गया है।

स्वयं विश्वातीत, अखण्ड, महाकालपुरुष यद्यपि विशुद्ध सत्तासिद्ध तत्त्व है, किन्तु उसी अखण्ड के खण्डात्मक भूत–वर्त्तमान–भष्यित् तीनों सोपाधिक–खण्ड विशुद्ध भातिसिद्ध ही माने जायँगे। सत्ता एक है, भाति तीन हैं। विश्वमर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाले मानवीय व्यवहारकाण्ड में उस एक ही सत्तासिद्ध तत्त्व की तीन खण्डों में प्रतीति होरही है। तीनों ही खण्ड क्योंकि भाति–भाव से सम्बन्ध रखते हैं, अतएव इनका अनुगममर्य्यादा से ही सम्बन्ध रहता है। निश्चितभाव को निगममर्य्यादा कहा जाता है, एवं इसका प्रधानतया सत्ताभाव से ही सम्बन्ध है। अनिश्चित, विपरिमाणी, परिवर्त्तनीय भाव को अनुगममर्य्यादा माना गया है, अतएव अपेक्षाभाव के अनुग्रह से पर्व पर्व में, अणु अणु में तीनों खण्डों का समन्वय देखा जाता है।

जब सृष्टि नहीं हुई थी, तो सम्पूर्ण प्रपञ्च भूतात्मक कालखण्ड के गर्भ में ही विलीन था। आज सृष्टि विद्यमान है, और यह वर्त्तमानात्मक कालखण्ड के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। कोई समय ऐसा आवेगा, जिस दिन सम्पूर्ण विश्व भविष्यदात्मक कालखण्ड में ही विलीन होजायगा। इसप्रकार विश्वसत्ताकाल को वर्त्तमान

कहा जासकता है, विश्व के पूर्वकाल को भूतकाल माना जासकता है, एवं विश्व की उत्तरावस्था को भविष्यत् कहा जासकता है। 'जायते' से पहिले भूतसत्ता, अस्ति-विपरिणमते-वर्द्धते-अपक्षीयते-चारों वर्त्तमानसत्ता, एवं 'नश्यति' भविष्यत्सत्ता।

भूतकाल सृष्टि का मूल है। भूत ही वर्त्तमान का कारण बनता है। इसी आधार पर कितने एक दार्शनिक अभाव को भाव के प्रति कारण माना करते हैं। बात है भी सच। जो वस्तु नहीं रहती, उसी की तो उत्पत्ति होती है। उत्पत्तिदशा वर्त्तमान है, 'नहीं' दशा भूत है। अतः अवश्य ही भूत को वर्त्तमान का जनक माना जासकता है। इस वर्त्तमान का अवसान होता है भविष्यत् पर। इसी दृष्टि से काल के भूतपर्व को **प्रभवस्थान**, वर्तमानपर्व को **प्रतिष्ठास्थान**, पर्व भविष्यत् पर्व को **परायणस्थान** माना जासकता है। भूतकाल विश्वप्रपञ्च का प्रभव बनता हुआ उक्थ है, यही कालात्मक **'ऋग्वेद'** है। भविष्यत्काल विश्वप्रपञ्च की अवसानभूमि बनता हुआ 'पृष्ठ' है, यही कालात्मक **'सामवेद'** है। वर्त्तमानकाल भूतकालात्मक ऋक् और भविष्यत् कालात्मक साम, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ, दोनों से युक्त रहता हुआ 'ब्रह्म' है, और यही कालात्मक **'यजुर्वेद'** है। इसप्रकार महाविश्वानुबन्धी महाकालखण्डों में तीनों वेदों का उपभोग होरहा है।

(क)—महाकालवेदसंस्थापरिलेखः—

१—भूतकालः——सृष्टेः प्रागवस्था–उक्थम्—ऋग्वेदः	—"महाकालवेदः"
२—वर्त्तमानकालः–सृष्ट्यवस्था——ब्रह्म——यजुर्वेदः	
३—भविष्यत् कालः–सृष्टेरुत्तरावस्था–पृष्ठम्——सामवेदः	

पूर्वोक्ता अनुगममर्य्यादा की कृपा से आगे जाकर स्वयं विश्वदशा में इस महाकालखण्डत्रयी के अनन्त अपरिमेय खण्ड होजाते हैं। इन्हीं खण्डों के आधार पर पुराणशास्त्र की महाप्रलय-प्रलय, खण्डप्रलय, नित्यप्रलय, आदि अनेक प्रलयावस्थाएँ प्रतिष्ठित हैं। विश्वसीमा से भी बाहिर तक दौड़ लगाने में सामान्य बुद्धि वालों को क्योंकि कष्ट होता है, अतएव वेदमहर्षि ने विश्वमर्य्यादा के भीतर ही कालवेद के दर्शन कराए हैं। विश्वमर्य्यादा भी दुरधिगम्या है। सभी वहाँ भी नहीं पहुँच सकते। इसीलिए सर्वानुभूत अहःकाल के ही पूर्वाह्न–मध्याह्न–अपराह्न तीन विभागों के द्वारा बड़ी सुगमता से कालवेदत्रयी का स्वरूप हमारे सामने रख दिया है ऋषिप्रज्ञा ने।

प्रातःकाल पूर्वाह्न का उपक्रमस्थान है, सायंकाल अपराह्न का उपसंहारस्थान है, बीच का सम्पूर्ण समय मध्याह्न है। पहिला भूत है, अन्त का भविष्यत् है, मध्य का वर्त्तमान है। पूर्वाह्णोपलक्षित भूतकाल आगे का उक्थ बनता हुआ 'ऋग्वेद' है। अपराह्णोपलक्षित भविष्यत्काल अवसानलक्षण 'पृष्ठ' बनता हुआ **'सामवेद'** है। एवं मध्याह्नोपलक्षित वर्त्तमानकाल प्रतिष्ठालक्षण **'ब्रह्म'** बनता हुआ, दोनों से योग करता हुआ **'यजुर्वेद'** है। इसप्रकार एक ही अहःकाल में तीनों वेदों का उपभोग होरहा है, और इस उपभुक्ता वेदत्रयी का भोग कर रहे हैं—अपने यज्ञ के प्रातःसवन, माध्यन्दिसवन, सायंसवन–नामक तीनों पर्वों से अहःपति सूर्य्यदेवता। आगे की श्रुति इसी कालवेद का दिग्दर्शन करा रही है—

ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव इयते—
यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः।
सामवेदेनास्तमये महीयते—
वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य्यः॥
—तै० ब्रा० ३।१२।६।१॥

(ख) —कालवेदसंस्थापरिलेखः—

१—पूर्वाह्णबिन्दुः———भूतकालः—उक्थम्—'ऋग्वेदः'	—'कालवेदः'
२—मध्यकालः———वर्त्तमानकालः—ब्रह्म—'यजुर्वेदः'	
३—अपराह्णबिन्दुः———भविष्यत्कालः-पृष्ठम्-'सामवेदः'	

इति—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(६)—"कालवेदनिरुक्तिः" प्रकीर्णभावापन्ना

१७

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

[६]-"कालवेदनिरुक्तिः"-प्रकीर्णभावापन्ना

१७

——*——

श्री:

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

(७)–"वर्णवेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना

१८

श्रीः

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(७)–"वर्णवेदनिरुक्तिः"–प्रकीर्णभावापन्ना
१८

ब्राह्मण में रहने वाले ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय के क्षत्रियत्व, एवं वैश्य के वैश्यत्व जिस तत्त्व से सुरक्षित रहने से ब्राह्मणादि ब्राह्मणादि कहलाने के अधिकारी बनते हैं, उसी तत्त्व को "वर्ण" कहा जाता है। प्रकृति के साम्राज्य में विचरण करने वाले अष्टाक्षर-गायत्रीछन्द से छन्दित प्रातःसवन के संचालक प्राणाग्नि–देवता ही "ब्रह्मतत्त्व" है, इसे ही, "ब्रह्मवीर्य्य" कहा जाता है। एवं यही आधिदैविक–संस्था का "ब्राह्मणवर्ण" है जैसा कि–"अग्ने! महाँ असि ब्राह्मण भारतेति" इत्यादि वचन से स्पष्ट है। जिसकी उत्पत्ति इस ब्रह्मवर्ण से युक्त माता–पिता के रजोवीर्य्यानुगत-दाम्पत्य से सम्बन्ध रखती है, वही मनुष्यों में जात्या ब्राह्मण कहलाता है।

एकादशाक्षर–त्रिष्टुप्छन्द से छन्दित, माध्यन्दिनसवन के सञ्चालक, प्राणेन्द्र–देवता ही 'क्षत्रतत्त्व' है, इसे ही "क्षत्रवीर्य्य" कहा जाता है, एवं यही आधिदैविक–संस्था का 'क्षत्रियवर्ण' है। जिस की उत्पत्ति एतद्युक्त दाम्पत्यभाव से होती है, मनुष्यों में वही जात्या 'क्षत्रिय' कहलाता है। द्वादशाक्षर–जगतीछन्द से छन्दित, सायंसवन के सञ्चालक, प्राणात्मक 'विश्वेदेव' नामक देवताओं की समष्टि ही "विट्तत्त्व है, इसे ही "विड्वीर्य्य" कहा जाता है, एवं यही आधिदैविक-संस्था का "वैश्यवर्ण" है। जिसका जन्म इन विश्वदेवों को प्रधानता देने वाले शुक्र–शोणित से होता है, उसे ही मनुष्यों में "वैश्य" कहा जाता है। प्रकृति में तीन ही देवता सछन्दस्क बनते हुए वीर्य्यरूप हैं। दूसरे शब्दों में वर्ण तीन ही मुख्य हैं। अतएव चौथा शूद्रवर्ण पार्थिव पूषाप्राण के सम्बन्ध से वर्ण कहलाता हुआ भी स्वछन्द है, स्वतन्त्र है, यथाजात है, वेदमर्य्यादा से छन्दोऽतीत है। इसी छन्दोविज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यं,
जगत्या वैश्यम्। न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्"।

वर्णतत्त्व प्राणदेवतारूप है, अतएव यह विशुद्ध 'सत्तासिद्ध' पदार्थ है। शुक्र–शोणितरूप भूतों में रहने वाली इस वर्णत्रयी का हम अपनी किसी इन्द्रिय से भान नहीं कर सकते। हाँ, तत्तद्वर्णोचित तत्तद्विशेषताओं के द्वारा अनुमान अवश्य ही लगाया जासकता है। परन्तु जिसप्रकार मनुष्य–पशु–पक्षी इत्यादि उभय–सिद्ध पदार्थों का हमें भान होता है, वैसे यदि कोई वर्णतत्त्व की अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रतीति करना चाहे, तो उसका यह प्रयास व्यर्थ होगा। कारण स्पष्ट है। वर्णतत्त्व प्राणात्मक है, एवं प्राणतत्त्व रूप–रस–गन्धादि पञ्चतन्मात्राओं की मर्य्यादा से बहिर्भूत है। इधर इन्द्रियाँ उसी सत्तासिद्ध पदार्थ का भान करने में समर्थ हैं, जो सत्ताभाव तन्मात्रामूलक भूतों से वेष्टित रहते हैं। यही कारण है कि, ब्राह्मणादि वर्णों के परिचय के लिए ब्राह्मणादि मनुष्यों में ऐसा कोई बाह्य चिह्न नहीं है, जिसके आधार पर आप विशुद्ध बाह्यदृष्टि से बाह्य आकार के आधार पर ब्राह्मणादि वर्णों का विभाजन कर सकें। अतएव वर्णतत्त्व प्राणात्मक, अतएव विशुद्धसत्तात्मक बनता हुआ केवल बुद्धिगम्य ही है।

ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य, तीनों वर्ण क्रमशः ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति-अर्थशक्ति, इन तीन शक्तियों के प्रवर्त्तक माने गये हैं। उधर पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ, इन तीन लोकों के अग्नि–वायु–इन्द्र, ये तीन अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) देवता बतलाए गए हैं। पार्थिव अग्नि अर्थशक्ति के, आन्तरिक्ष्य वायु क्रियाशक्ति के, एवं द्युलोकस्थ मघवेन्द्र ज्ञानशक्ति के प्रवर्त्तक हैं। साथ ही में अर्थशक्तिप्रधान अग्नि का ऋग्वेद से, क्रियाशक्तिप्रधान वायु का यजुर्वेद से, एवं ज्ञानशक्तिप्रधान इन्द्र का सामवेद से सम्बन्ध है। फलतः यही निष्कर्ष निकलता है कि, ज्ञानशक्तियुत ब्राह्मणवर्ण का विकास ज्ञानशक्तियुक्त इन्द्रानुगत सामवेद से हुआ है। क्रियाशक्तियुत क्षत्रियवर्ण की उत्पत्ति क्रियाशक्तियुत यजुर्वेद से हुई है। एवं अर्थशक्तियुत वैश्यवर्ण की प्रसूति अर्थशक्तियुत अग्न्यनुगत ऋग्वेद से हुई है। तत्त्वतः ब्राह्मणवर्ण सामवेदरूप है, क्षत्रियवर्ण यजुर्वेदरूप है, एवं वैश्यवर्ण ऋग्वेद–रूप है।

ज्ञान--क्रियाभावों का उक्थ 'अर्थ' ही माना गया है। अर्थ के आधार पर ही ज्ञान-कर्म्म पुष्पित, तथा पल्लवित होते हैं। इसी उक्थभाव के कारण उक्थरूप वैश्य को "ऋग्वेद" कहना न्यायसङ्गत होता है। ज्ञान पर सम्पूर्ण कर्म्म-कलाप का अवसान है। ज्ञानोदय होने पर अर्थ--कर्म्मादि सबका अवसान होजाता है। इसी पृष्ठलक्षण अवसानभाव से ब्राह्मण को "सामवेद" कहना अन्वर्थ बनता है। क्रियारूप क्षत्रिय दोनों के मध्य में रहता हुआ, दोनों से योग रखता हुआ दोनों को प्रतिष्ठित रखने वाला है, अतएव प्रतिष्ठारूप ब्रह्मात्मक क्षत्रिय को "यजुर्वेद" कहना उचित होजाता है। इसप्रकार वर्णत्रयी में क्रमशः तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध होजाता है। इसी वर्णवेद का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

> ऋग्भ्यो जातं वैश्यवर्णमाहुः—
> यजुर्वेदं क्षत्रियस्याऽऽहुर्योनिम्।
> सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः—
> पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः॥
> —तै०ब्रा० ३।१२।६।२।

वर्णवेदसंस्थापरिलेखः—

१—पृथिवी——अग्निः—अर्थः—उक्थम्—विट्—"ऋग्वेदः"	—'वर्णवेदः'
२—अन्तरिक्षम्-वायुः—-क्रिया—ब्रह्म—क्षत्रम्—"यजुर्वेदः"	
३—द्यौः———इन्द्रः——ज्ञानम्-पृष्ठम्—ब्रह्म—"सामवेदः"	

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(७)– "वर्णवेदनिरुक्तिः" प्रकीर्णभावापन्ना

१८

—*—

श्रीः

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ

(७)-"वर्णवेदनिरुक्तिः"—प्रकीर्णभावापन्ना

१८

'वेद के तात्त्विक-स्वरूप की रूपरेखा से अनुप्राणिता'

"वैज्ञानिक-वेदनिरुक्तिश्च"

अत्र-उपरता

श्री:

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–प्रथमखण्ड का विराम—

"क्या उपनिषत् वेद है ?", इस महत्त्वपूर्ण उस प्रश्न की मीमांसा उपक्रान्त है, जिस प्रश्न की अहमहमिका को आधार बनाकर ही भारतीय वेदभक्त विगत-भुक्त-प्रक्रान्त-अनेक शताब्दियों से **'वेद की अपौरुषेयता, तथा पौरुषेयता'** के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के ऊहापोह करते चले आरहे हैं। तत्त्वदृष्ट्या इत्थंभूत सभी प्रकार के ऊहापोह सर्वथैव निरर्थक, अतएव नितान्त उपेक्षणीय ही माने जाने चाहिए। क्योंकि इत्थंभूत महत्त्वपूर्ण ? प्रश्नों का, तथा तथाविध ही ऊहापोहों का वेदानुबन्धी ज्ञानविज्ञानात्मक-तात्त्विक-पारिभाषिक-स्वाध्याय की दृष्टि से यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है। वस्तुस्थिति तो वास्तव में कुछ ऐसी है कि, वेदस्वाध्याय से वञ्चित रहने के कारण ही इसप्रकार के काल्पनिक प्रश्नों को, एवं निरर्थक ऊहापोहों को मानव की प्रज्ञा प्रश्रय प्रदान कर दिया करती है, और मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के सम्बन्ध में एकमात्र इसी स्वाध्याय--प्रवञ्चना से तथाविध प्रश्न, एवं निरर्थक ऊहापोह–प्रक्रान्त होपड़े हैं।

युगधर्म्मनिबन्धन तथाभूत प्रश्नों, एवं ऊहापोहों के नीरक्षीरविवेक--की दृष्टि से ही **'उपनिषद्विज्ञान-भाष्यभूमिका'** नामक निबन्ध प्रस्तुत हुआ है, जो तीन अवान्तर-खण्डों में विभक्त है, जिसका कि प्रतिज्ञात-**'प्रथमखण्ड'** प्रक्रान्त प्रश्न के समाधान की प्रक्रान्ति से अनुगत रहता हुआ ही अत्र उपरत होरहा है। अठारह भागों में विभक्ता **'वेदनिरुक्ति'** के माध्यम से प्रक्रान्त-प्रश्न के सम्बन्ध में तात्त्विक वेद की जो 'रूपरेखा' अत्र उपस्थित हुई है, हम समझते हैं-अभी वह पर्य्याप्तरूपेण तत्प्रश्न का सम्यग्रूपेण समाधान कर देने में सक्षम नहीं है। यही नहीं, अपितु कुछ एक शताब्दियों से प्रक्रान्त, पारिभाषिक तथ्यों से सर्वथैव असंस्पृष्ट रूढ़िवादात्मक जो काल्पनिक संस्कार, किंवा कुसंस्कार हमारी भावुकतापूर्णा काल्पालीकृता प्रज्ञा में खचित होगए हैं, उनके निग्रहात्मक-वारुणपाशबन्धनवे हमारे मनस्तन्त्र में एक वैसा अभिनिवेशात्मक दुराग्रह उत्पन्न कर दिया है, जिसके अनुबन्ध से वास्तविक तथ्य के सम्पर्क में आकर भी हम अपनी काल्पनिकी–दुराग्रहमूला-मान्यता के परित्याग में सक्षम–नहीं बन पाते। अतएव यह सम्भव है, और अधिकांश मे सम्भव है कि, **'वैज्ञानिकी–वेदनिरुक्ति'** से अनुप्राणिता अठारह प्रकार की वेदनिरुक्तियों पर दृक्पात करने मात्र से ही हमारा अभिनिवेश कहीं सहसा प्रदीप्त न होपड़े।

तथाविधा–अभिनिवेशमूला प्रदीप्ति की उपशान्ति के लिए यह आवश्यक होजाता है कि, आत्म–वेदनिबन्धन–उस **'प्राजापत्यवेद'** के ही तात्त्विक–स्वरूप का अनुगमन किया जाय, जिसका तत्त्वनिष्ठोंनें **सौर–सावित्राग्नि** के साथ ही अन्तर्य्याम–सम्बन्ध माना है। एवं जिस सौर–सावित्राग्नि के माध्यम से ही महर्षि भरद्वाज की–**'अनन्ता वै वेदाः'** सूत्रमूला तत्त्वानुगता वेदविज्ञानजिज्ञासा इन्द्रदेव के द्वारा उपशान्त हुई है।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका के क्रमप्राप्त **द्वितीय**, तथा **तृतीय**–खण्डों में उसी–प्राजापत्यवेद की महिमा का विस्तार से यशोगान हुआ है। तत्त्वात्मक–प्राज्यापत्यवेद ही वह अपौरुषेयवेद है, जिसके अनुरूप

ही छन्दोमर्य्यादा के अनुबन्ध से 'शास्त्रवेद' का आविर्भाव हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। तात्त्विक-अपौरुषेयवेद का शाखात्मक-मौलिक स्वरूप-क्या है ?, तत्प्रतिरूपात्मक शास्त्रवेद की अमुक नियत-शाखाएँ ही क्यों हुई ?, इत्यादि रहस्यात्मक मौलिक-प्रश्नों के ज्ञान-विज्ञानात्मक-पारिभाषिक-तथ्यों का विस्तार से स्पष्टीकरण करने वाले भूमिका के अग्रिम दोनों खण्ड निश्चयेन कल्पनाप्रसूत उन सभी प्रश्नों का, तथा निरर्थक-ऊहापोहों का आमूलचूड़ उन्मूलन कर देंगे, जिन प्रश्नोंनें, एवं ऊहापोहोंनें भारतराष्ट्र की आर्षनिष्ठात्मिका भी प्रज्ञा को विगत कतिपय शताब्दियों से सर्वथैव पिन्दमाना ही प्रमाणित कर रक्खा है। हमारी ऐसी आत्मनिष्ठा है कि, यदि दोषदृष्टि से भी, एकबार भी पाठकोंनें निष्ठापूर्वक खण्ड-त्रयात्मिका उपनिषद्भूमिका को समन्वित कर लिया, तो निश्चयेन उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले वैज्ञानिक-इतिवृत्त के साथ साथ वेद के पौरुषेय-अपौरुषेय-वाद से अनुप्राणित चिरकालिक विसंवाद सर्वथैव उपशान्त होजायँगे, इसी मङ्गलकामना के साथ प्रस्तुत प्रथमखण्ड-विरामपथानुगामी बन रहा है।

इति-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकायाः

प्रथमखण्डः-उपरतः

१

श्रीः

इति-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकायाः

प्रथमखण्डः-उपरतः

१

---*---

१८–भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय ... १॥)
१९–वेद का स्वरूप-विचार ... . २)
२०–क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक-आमन्त्रण) ... ... २॥)
२१–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा ... ... २५)
२२–शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत-प्रथमखण्ड ... २५)
२३– ,, द्वितीयखण्ड .... ३०)
२४–*राष्ट्रपतिभवनानुगत-व्याख्यानपञ्चक .... ६)

(१)–सम्वत्सरमूला–अग्नीषोमविद्या (प्रथम–व्याख्यान)
(२)–पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या (द्वितीय–")
(३)–मानव का स्वरूप परिचय (तृतीय–")
(४)–'अश्वत्थविद्या' का स्वरूप-परिचय (चतुर्थ–")
(५)–वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय (पञ्चम–")

प्राप्तिस्थान—

व्यवस्थापक–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान - जयपुर'

दुर्गापुरा (जयपुर - राजस्थान)

---

*–राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से समन्वित ।

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान-जयपुर'
के द्वारा प्रकाशित
एवं
श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम-दुर्गापुरा (जयपुर)
के द्वारा मुद्रित